ॐ

दर्शन तत्त्व रत्नाकर

प्रथम भाग

लेखक

सूरजमल मीमाणी

सम्वत १९९२

पता—

सूरजमल मीमाणी

ठि० जीवनराम गंगाराम

नं० ११३ मनोहरदास कटरा

कलकत्ता

मुद्रक
नगेन्द्र बोस
विश्वकोश प्रेस, कलकत्ता।

विषय सूची

विद्यासेवापरायणेन श्रीमता सूरजमल मीमाणी महोदयेन विरचितस्य "दर्शन तत्त्व-रत्नाकर" नामधेयग्रन्थस्य [प्राथमिको भागो मया परिदृष्टः। ग्रन्थेऽस्मिन् रचयितुर्बहुविज्ञतायाः परिचयो बहुत्र वरीवर्त्ति। अत्र खलु योग-वेदान्तशास्त्रप्रतिपाद्या बहवः सार-सिद्धान्ताः सरलया हिन्दीभाषया नवीनरीत्या तथा वर्णिता यथा हिन्दीभाषाभिज्ञानां सर्वेषामेव बुद्धिमतां मूलग्रन्थपाठमन्तरेणापि तत्तत् सिद्धान्तपरिज्ञानं भविष्यतीति मन्यते। काम्यते च सर्वत्रास्य प्रचार इति।

ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपदि }
शकाब्दाः १८५७ }

काशीवासिना
महामहोपाध्याय श्रीफणिभूषण
तर्कवागीशभट्टाचार्येण।

'दर्शन तत्त्व-रत्नाकर' के ३३६ पृष्ठों पर यत्र तत्र दृष्टि डाल कर मैंने परमानन्द की प्राप्ति की। दर्शनोंके सम्बन्धमें यह पुस्तक सचमुच ही रत्नाकर है। हिन्दी भाषाका यह सौभाग्य है जो उसमें इस प्रकार के गहन और महत्त्वपूर्ण विषयोंसे परिप्लुत पुस्तक का प्रकाशन हो गया।

दौलतपुर
२८-३५ ई०

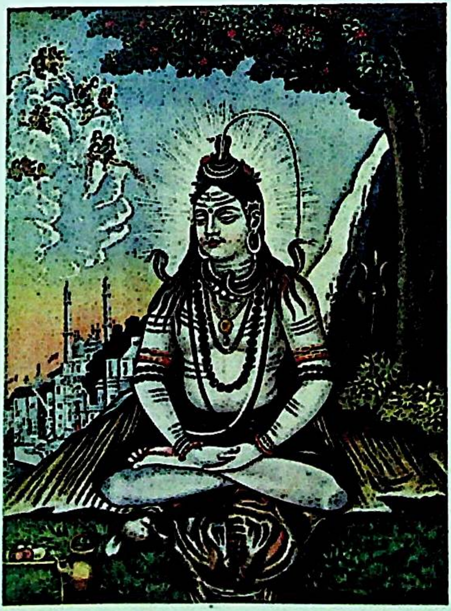
महावीरप्रसाद द्विवेदी



'कुरान तत्त्व-रत्नाकर' के ११६ पृष्ठों पर मात्र सरसरी दृष्टि डाल कर मैंने परमानन्द की प्राप्ति की। कुरानके सम्बन्धमें यह पुस्तक वास्तवमें ही रत्नाकर है। हिन्दी भाषाका यह सौभाग्य है जो उसमें इस प्रकार के गहन और महत्त्वपूर्ण विषयोंसे परिप्लुत पुस्तक का प्रकाशन हो गया।

दौलतपुर
२८-१२ ई०

महावीरप्रसाद द्विवेदी



काशी विश्वनाथ

भूमिका

अध्यात्म शास्त्रकी सर्वोच्च उपादेयता प्रत्येक मननशील मानवके मनन पथका सदियोंसे चिर पथिक होती चली आ रही है, इसमें प्रायः आज भी विद्वानोंका मत-भेद दृष्टि गोचर नहीं हो रहा है। उस आध्यात्मिक ज्ञानसे मानवका चित्त कितना शान्तिमय और निमल हो जाता है इसका वर्णन करना वाणीके वाहर है, जिसने इसका रसास्वादन किया है वही समझता रहता है।

संसारके सच्चे और झूठे जाननेकी एकमात्र कसौटी अध्यात्म शास्त्र है, किन्तु आये दिन नास्तिक वादके बाहुल्यसे वह विलुप्तप्राय होता चला जा रहा है। आज विलासिता और विषय-मदने उस महत्त्व-पूर्ण विवेकको शिथिल कर रक्खा है। विद्युत्की तरह क्षणिक विषय-भोगके सुख-स्वप्नमें लोग तल्लीन रहते हैं निकट भविष्यमें उसके प्राप्त होनेकी कामना करते हुए अपने समस्त पुरुषार्थको निरन्तर चालू रखते हैं।

क्या यह युग धर्म है! जिसमें हेर-फेर करनेकी गुञ्जाइश नहीं, अथवा लोगोंका उधरसे उपेक्षा भाव रखना है! मैं कहूंगा—युग धर्म नहीं, सब युगोंमें अच्छे-बुरे भाव तारतम्यरूपसे होते रहे और होते रहेंगे क्योंकि यह विश्व-निर्माण त्रिगुणात्मक है।

मनुष्य अपने अथक परिश्रमसे अपनी कमीको प्रायः बहुत अंशोंमें पूरा कर सकता है, यदि वह अपनी विषय-मदकी स्वाभाविक उद्दण्डताको छोड़ कर विवेकका स्वागत करे।

विवेकका परित्याग, संस्कृत शास्त्रोंकी उपेक्षा, धार्मिक भावकी निन्दा और सदाचारका उपहास यही आज अविवेकी व्यक्तियोंके विनोदकी सामग्री हो रही है।

यद्यपि ऐसी परिस्थितिमें विवेकपूर्ण उपदेश देना अथवा आध्यात्मिक पुस्तक लिखना अरण्यरोदन सा ही प्रतीत होता है तथापि किसीके कभी तीव्रतर सात्त्विक धर्मके उदय होनेसे विषय-मदके नशा उतर जानेसे उसके विषय भोगका सुख-स्वप्न दुःस्वप्नमें परिणत हो जाता है। उसे सत्सङ्ग करनेकी अभिलाषा होने लगती है। धर्म, कर्म, सदाचार और विद्वानोंका वही आदर करने लग जाता है।

आत्माके सच्चिदानन्द स्वरूपके आवरणको हटानेके उद्देशसे अध्यात्म विद्याध्ययन और उसके अनुकूल साधनमें पुनः वह लग जाता है और तत्पर हो कर निरन्तर लगे रहनेसे काल पा कर उसे सफलता भी अवश्य मिल जाती है। दूसरे लोग, जिनकी पूर्व जन्मके तीव्रतर शुभ कर्मके फलस्वरूप जन्मसे ही सात्त्विक प्रवृत्ति हो जाती है, वह भी उसीके लिये प्रयत्नशील रहता है ऐसे जिज्ञासु सज्जनोंको इस युगमें भी आध्यात्मिक उपदेश शान्ति-प्रद होता है। अनिष्टग्रहकी महादशा और अन्तर्दशामें कभी शुभ ग्रहका प्रत्यन्तर आ जाता है।

सारांश यह कि दिन-रातके अशान्तिमय संचयसे ऊब कर सत् शास्त्रके श्रवण आदिसे जिनका चित्त निर्मल हो गया है, उन्हें अध्यात्म शास्त्रकी इस महत्त्वपूर्ण सरल पुस्तककी उपादेयता जंचेगी ही नहीं, किन्तु वे इस कार्यमें परिणत करेंगे इसकी मुझे पूर्ण आशा है

इस पुस्तकके लेखक हैं—श्रीयुत बाबू मूर्यमलजी मोमाणी। आपकी वेदान्त शास्त्रमें पूर्ण निष्ठा है। आपने पहले "ज्ञान रत्नाकर" और "धर्म-भक्ति रत्नाकर" इन दो अनोखी पुस्तकोंको लिख कर अपनी विलक्षण प्रतिभा शक्तिके परिचय देते हुए आध्यात्मिक तथा धार्मिक भावकी जिज्ञासु जनतामें सन्तोष-जनक जागृति कर दी है।

आपका यह प्रयास सराहनीय और अत्यन्त वैदुष्य-पूर्ण है।

इस पुस्तकका यह प्रथम भाग है, इसमें वासनाका विचार, अष्टाङ्ग योग-वर्णन, सृष्टि प्रक्रिया पंचकोश-विवेक, मायाके स्वरूप, जीव और ईश्वरके स्वरूप और उसके अभेदकी पद्धति तथा देह आदिसे आत्माका पृथक् करण आदिका सविस्तर वर्णन कर दिया गया है।

इसके द्वितीय भागमें चार्वाक आदि नास्तिक तथा वेदान्त आदि आस्तिक सिद्धान्तोंका सविस्तर वर्णन किया गया है।

यहां यह कह देना आवश्यक है कि वेदको नहीं मानना यानी वेदके द्वारा प्रतिपादित कर्म कलाप, ईश्वर और सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा आदिको नहीं मानना ही नास्तिकता है। नास्तिक दर्शनोंका पहले विशद रूपसे उपपादन करके पश्चात् क्रमसे नास्तिकोंके एक एक पदार्थका सार गर्भित विलक्षण युक्तियों से खण्डन कर दिया गया है।

अन्तमें अद्वैतसिद्धान्तका जो भगवान् शङ्करका सर्व-मान्य सिद्धान्त है, सविस्तर उपपादन किया गया है और उसकी सर्वश्रेष्ठता दिखलायी गयी है।

इस प्रकार इस "दर्शन तत्त्व रत्नाकर" में द्वादश दर्शनका समा-वेश किया गया है, किन्तु इस भागमें सिर्फ आत्म-ज्ञानके उपयोगी पदार्थोंका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

इस कृतिके साथ मिमाणीजीकी कीर्त्ति और विद्वत्ता विवेक शील जनतामें समुज्ज्वलित हो उठेगी इसकी मुझे पूर्ण आशा है। इतने बड़े कारोबारके रहते आपकी इस प्रकारकी आध्यात्मिक श्रद्धा एक महान् आदर्श है। ईश्वर आपकी इस प्रवृत्तिको सदैव अक्षुण्ण बनाये रखें, यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है।

इस पुस्तकके संशोधन करनेका समस्त भार मेरे ही ऊपर था अतः इसकी भूल-चूकके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूं।

पं० शिवनारायण झा

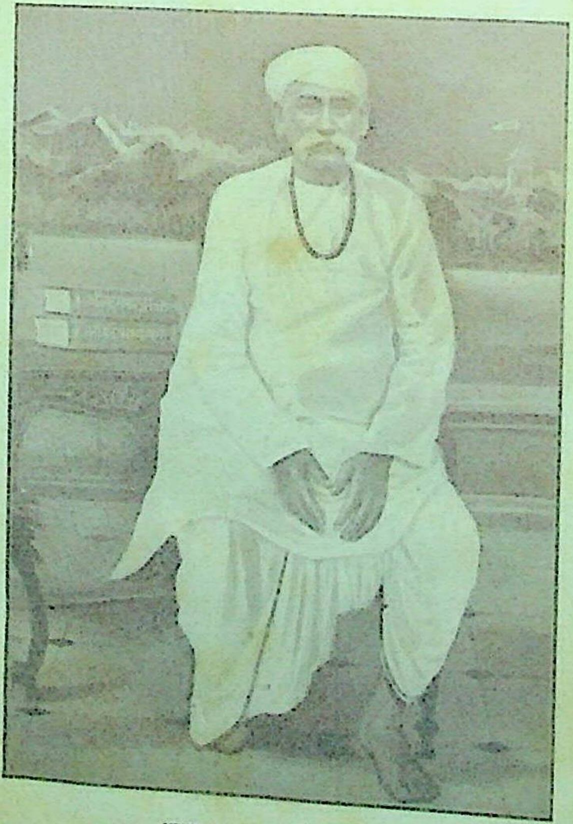
समर्पण

परम पूजनीय पिताजी !

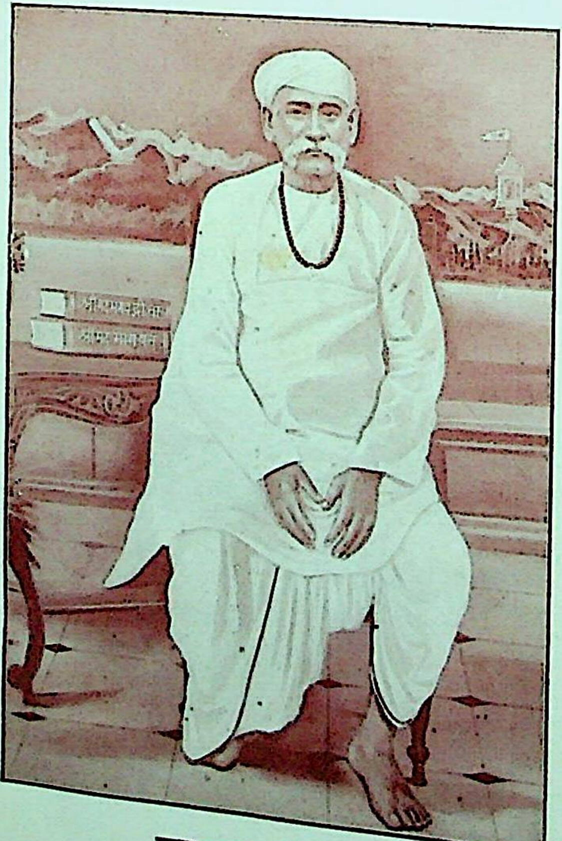
आप अपने अनुपम प्यार से सदैव जिसका लालन-पोषण किया करते थे और सात्त्विक उपदेश देकर जिसकी धार्मिक प्रवृत्ति अक्षुण्ण रक्खा करते थे वही आज आपकी दिवङ्गत आत्माकी चिर शान्तिके लिये आज तक के अपने आत्म-विकाश का यह उपहार आपही के कर कमलों में सादर समर्पित करता है।

आपका पाद सेवक

सूरजमल



राम प्रताप मोभाणी



राम प्रताप मोमाणो

लेखकके विनम्र निवेदन

आध्यात्मिक और धार्मिक भावके 'ज्ञान रत्नाकर, तथा 'धर्म भक्ति रत्नाकर' इन दो पुस्तकोंको लिख कर आप सज्जनोंके सामने पहले रख चुका हूं। आप लोग भी अपनी अनुपम निष्पक्षतासे उन्हें जो सन्तोष-जनकरूपमें अपना चुके हैं उसीसे उत्साहित हो कर आज मैं इस उपहारको ले कर आपके सामने फिर भी उपस्थित हो रहा हूं।

आज जो यह नास्तिकवाद और निरीश्वरवाद जैसी संस्थाएं कायम की जा रही हैं और उस प्रकारके उपदेशके द्वारा जो सनातन धर्म पर घोर कुठाराघात किया जा रहा है उसका एकमात्र कारण है—हम अपने दर्शनको भूल गये हैं। हमारा सर्वस्व—हमारा 'दर्शन' कितना ऊंचा और सारगर्भित है इसकी जानकारी हम नहीं रखते हैं, रक्खें भी तो कैसे! संस्कृत शास्त्र ही प्रथम कठिन है, फिर उसमें दर्शन शास्त्र तो अत्यन्त गम्भीर है अतः सदासे मेरा एकमात्र यही अभिप्राय रहा है कि अत्यन्त गम्भीर दर्शन शास्त्र पक्षपात-रहित भावसे विशद-रूपसे सरल हिन्दी भाषामें लिखें, जिससे लोगोंकी प्रवृत्ति दर्शन शास्त्रमें अनायास हो सके।

जो जिज्ञासु सज्जन अच्छी तरह एक बार दर्शन शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वह कभी नास्तिक और निरीश्वरवादी नहीं हो सकते—यह मेरा पूर्ण विश्वास है, और यह सत्शास्त्र और सत्पुरुषों तथा समीचीनसे समीचीन युक्तियोंसे

निश्चित हो चुका है कि सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माका ज्ञान प्राप्त करना मानवका एक मात्र उद्देश्य होना चाहिये।

अपनी आत्माके वास्तव सुधार करनेसे ही जगत्का सुधार हो जाता है इस लिये चित्तके मल-विक्षेप और आवरण दोष हटा कर आत्म-विवेकमें सारे पुरुपार्थको लगा देना ही मानवता है।

इस पुस्तकमें वासनाका विचार, अष्टाङ्गयोग-वर्णन, पंचकोश विवेक, जीव और ईश्वरके स्वरूप और उसके अभेदकी पद्धति, मायाके स्वरूप, सृष्टि-प्रक्रिया, देह आदिसे आत्माका पृथक् करण आदिका सविस्तर वर्णन कर दिया गया है, इसके द्वितीय भागमें चार्वाक आदि नास्तिक तथा न्याय आदि आस्तिकोंका सविस्तर वर्णन किया गया है।

इसमें नास्तिक दर्शनोंका पहले विशद रूपसे उपपादन किया गया है और पश्चात् उपपादन क्रमसे नास्तिकोंके एक एक पदार्थका खण्डन कर दिया गया है। न्याय, वैशेपिक, पूर्व मीमांसा सांख्य और योगका यथावत् उपपादन किया गया है अन्तमें वेदान्त दर्शनकी सर्वोत्कृष्टता दिखलायी गयी है यदि इस पुस्तकसे आप सज्जनोंकी कुछ सेवा हो सकेगी तो मैं अपनेको सफल समझूंगा। भूल-चूकके लिये विज्ञ जन क्षमा करेंगे।

विनीत

सूरजमल मीमाणी

नमः श्रीशङ्कराचार्यभगवत्पादेभ्यः ।

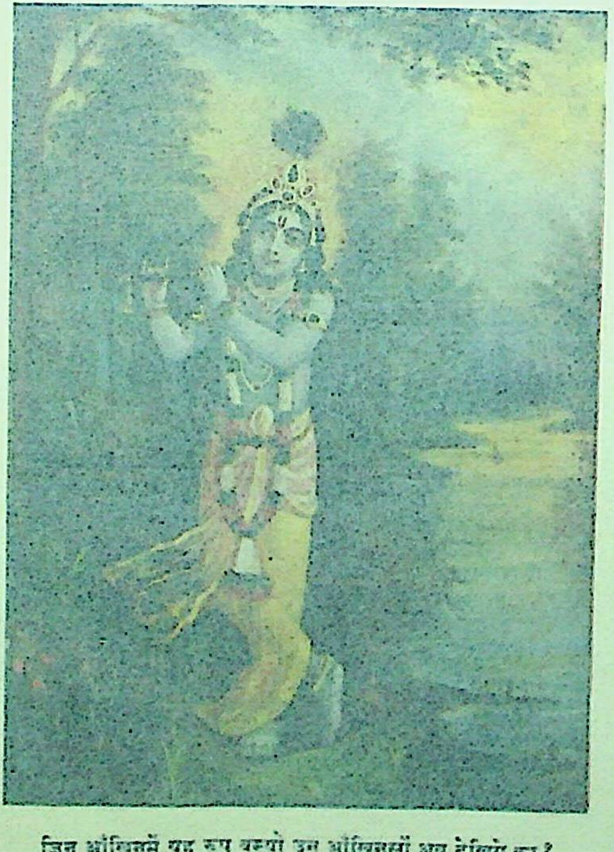
अस्माभिः सामीचीन्येन पर्यालोचि 'श्रीसूरजमलजी मीमाणी' महोदयेन, सुसङ्कलितस्य 'दर्शनतत्त्वरत्नाकर' नामधेयग्रन्थस्य प्राथमिकोभागः। पर्यालोच्यचेदमभिधातुं बलादुत्सहते चेतो यत् दुरवगाहपङ्कदर्शनीनीरनिधीन् निर्मथ्योदधारि ग्रन्थरत्नमिदमप्रतिमं गीर्वाणवाणीप्रणयिना जिज्ञासुजनतोपकृतिकृतमतिनोक्तमहाशयेन ।

ग्रन्थेऽस्मिन्नास्तिकास्तिकदर्शनमतानि साकल्येन विस्तरेण सरलतरयारीत्याच सोपपत्तिकमुपवर्ण्य नास्तिकमतानि निरस्य-चास्तिकमतानि सैद्धान्तिकाध्वनि न्यधायिषत। हिन्दीभाषायां नैतादृशोग्रन्थोऽस्माभिर्दृष्टचरः। सर्वथा प्रशंसनीयोऽयंग्रन्थः। न केवलं छात्राणामुपकारकोऽयंग्रन्थोऽपितु भूयसाऽनेहसामहीयसायासेन समासादनीयानां निखिलदर्शनसिद्धान्तानामेकत्रसंग्रहेणविदुषामपि दर्शनीयतांगतो नैजगुणगणगरिम्णेत्युक्तौनास्त्यतिशयोक्तिलेशोऽपीति। महान्तमुपकारमाधास्यति दर्शनतत्त्वजिज्ञासूनां तद्दीयकाठिन्येन निराशाग्रस्तस्वान्तानाम्। द्वितीयभागोऽपितादृशोभवितेति'स्थाली-पुलाकन्याये'नानुमितुमहे ।

'सन्दर्भः परिभाव्यतां सुमतयः स्वार्थेषु को मत्सरः' इति भामतीग्रन्थान्ते वाचस्पति मिश्र वचोऽनुसारंग्रन्थोऽयंसर्वैर्द्रष्टव्यः। एवम्विधानपरानपि ग्रन्थान्निर्मातुं प्रकाशयितुञ्च चिरञ्जीवयतु महोदयमेनं 'लक्ष्मीभक्ता न भवन्ति सरस्वत्यनुरक्ताः' इतिचिरंन्तन-प्रवादापवादभूतं भगवान् भवानीजानिरितिसम्मन्यते—

स्वामी भागवतानन्दोमण्डलीश्वरः, शास्त्री, काव्य-सांख्य-योग-न्याय-वेदान्ततीर्थो वेदान्तवागीशो मीमांसाभूषणो वेदरत्नम्, कनखल (हरिद्वार) वास्तव्यः ।

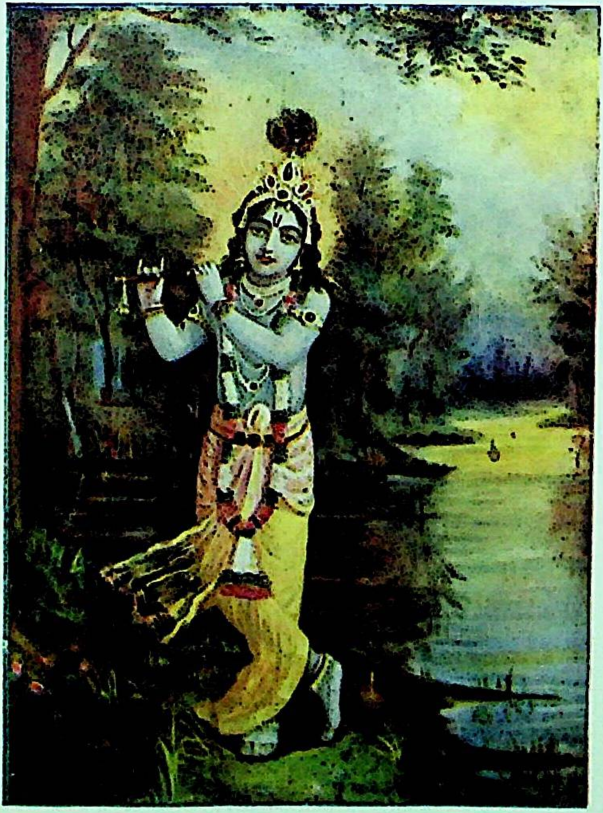
विश्वविमोहन मोहन



जिन अँखियनमें यह रूप बस्यो उन अँखियनसों अब देखिये का ?

GITA PRESS, GORAKHPUR.

विश्वविमोहन मोहन



जिन आँखिनमें यह रूप बस्यो उन आँखिनसों अब देखिये का ?

GITA PRESS, GORAKHPUR.

ॐ

दर्शन तत्त्व रत्नाकर

सब ग्रन्थकारों ने अपने २ ग्रन्थों में प्रथम मंगलाचरण किया है, अतः मैं भी शिष्ट-सम्प्रदाय के अनुसार निर्विघ्न रूप से ग्रन्थ की समाप्ति के लिये इस ग्रन्थ में प्रथम अपने इष्टदेव सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म का नमस्काररूप मंगलाचरण करता हूँ।

सत्ये यत्र विभाति विश्वमखिलं रज्जौ यथाहिर्मतः
यद्दृष्टेर्विलयं समेत्यहिरिव ज्ञानाद्धि रज्जोः पुनः ।
शुद्धान्तःकरणैः सदा जगति यत् जिज्ञासुभिर्मृग्यते
सान्द्रानन्दघनं तदेव शतधा चैतन्यरूपं नुमः ॥

जिस प्रकार रज्जु (रस्सी) में सर्प की प्रतीति होती है अर्थात् वास्तव सर्प नहीं रहने पर भी रज्जु के अज्ञान से

रज्जु में सर्प का ज्ञान होने लग जाता है, उसी प्रकार सत्य स्वरूप जिस आत्मा में यह सारा संसार भासित हो रहा है अर्थात् वास्तव आत्म-ज्ञान नहीं रहने के कारण ही सद्रूप आत्मा में उभावचरूपसे यह सारा संसार सत्य मालूम पड़ता है और रज्जु के वास्तव ज्ञान हो जाने पर जिस प्रकार वहां सर्प की प्रतीति सर्वथा विनष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जिस आत्मा के वास्तव ज्ञान हो जाने पर यह सारा संसार सदैव के लिये विलुप्त हो जाता है। इस संसार में मल—विक्षेप दोष से रहित विशुद्ध अन्तःकरण वाले जिज्ञासुगण जिस आत्म-तत्त्व को निरन्तर खोजते रहते हैं। आनन्द-राशि, चैतन्यस्वरूप उसी सद्रूप आत्म-तत्त्व को हम शतशः नमस्कार करते हैं।

चार्वाकः सततं मलीमसमना जैनः पथोन्यक्कृतः
येऽन्येपंडितमानिनोऽथनितरांबौद्धाश्चतुःसंख्यकाः
सर्वेतेकिलनास्तिकाहिशतशोयुक्त्यादिभिः खंडिताः
आनीताःपुनरास्तिकाःसतिपथिस्वध्यात्मशास्त्रद्रुहः

सदैव पाप की भावना करने वाला चार्वाक और जैन, जो वेद के सत्पथ से बाहर हो गया है तथा अपने को महान् पण्डित मानने वाले सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक ये जो चार प्रकार के बौद्ध हैं, वे सबके सब वेद-

विरोधी होने के कारण नास्तिक हैं, इस ग्रन्थ में अनेक प्रकार की युक्तियों से, श्रुतियों के समन्वय आदि से उन नास्तिकों का विशदरूप से खण्डन किया गया है और जो आस्तिक हैं किंतु वेदान्त के सिद्धान्त को नहीं मानते हैं वे भी वेदान्तविद्या के सत्पथ पर लाये गये हैं।

अगणित योनियों के इस विशाल संसार में सुख और दुःख ये दो जबर्दस्त पदार्थ सबको अनुभूत हो रहे हैं। यद्यपि सुख को ही सब कोई चाहते हैं, दुःख को कोई भी नहीं चाहता है तथापि ऐसा एक प्राकृतिक अटल नियम है जिससे किसी न किसी रूप में सबको दुःख भी भोगना ही पड़ता है। किसी को ज्यादा सुख कम दुःख भोगना पड़ता है तो किसी को ज्यादा दुःख कम सुख भोगना पड़ता है। सारांश यह कि सुख-दुःखका भोग सबका एकसा नहीं रहता है। सुख की प्राप्ति के लिये ही प्रत्येक जीव अपनी कोशिश या पुरुषार्थ को चालू रखता है, जिसकी जैसी मिहनत या पुरुषार्थ रहता है उसको वैसा ही सुख मिलता है।

यह मानी हुई बात है कि कारण में कमी-बेशी रहने से ही उसके कार्य में कमी-बेशी होती है। मिट्टी के परिमाण (वजन) अधिक रहने से बड़ा घड़ा बनता है और उसके परिमाण में कमी रहने से छोटा घड़ा बनता है, इसी प्रकार इस जन्म के अथवा जन्मान्तर के किये अपने पुरुषार्थ के अनुसार ही जीव

सुख प्राप्त करता है। संसार में अनेक प्रकार के सुख हैं और एक से एक बड़े हैं।

साधारण सुख रहने पर भी अपने से विशेष सुखी व्यक्ति को देखकर उसके सुख की लालसा होने लग जाती है और उस विशेष सुख के नहीं मिलने पर उसकी लालसा लगी रहने से पहले का अपना सुख भी दुःख में परिणत हो जाता है अतएव सत् शास्त्रों में उसी सुख के लिये सर्वथा प्रयत्न करना वास्तविक पुरुषार्थ माना गया है जिस सुख में कमी-बेशी न हो, द्वैत न रहे, लालसा न रह जाय, जो किसी प्रकारका परिवर्त्तन-शील न हो और जिसका कभी विनाश न हो।

उक्त प्रकार का जो सुख है वही मोक्ष या परम पुरुषार्थ है, और जितने इस लोक के या परलोकके सुख हैं वे सब तारतम्यसे दूषित हैं अर्थात् उनमें पारस्परिक कमी-बेशी रहने से सब दुःख-रूपही हैं, वास्तविक सुख रूप नहीं हैं और स्त्री, पुत्र, धन आदि अनित्य विषयों से उत्पन्न होने के कारण सब अनित्य हैं इसी-लिये उस मोक्षरूप परम सुख के अन्वेषण करने के लिये प्राचीन समय में सांख्य आदि छः प्रकार के आस्तिक दर्शन का निर्माण हुआ और बौद्ध आदि छः प्रकारके नास्तिक दर्शनका भी निर्माण हुआ।

उनमें नास्तिक दर्शन तो वेद-बाह्य होने के कारण उद्देश्य-प्राप्ति के बाधक हैं अतः सर्वथा अमान्य हैं, इसका आगे विशद रूप से विवेचन किया गया है। लोगों की विभिन्न रुचि के अनु-

सार सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, न्याय, वैशेषिक ये जो पांच दर्शन हैं वे कई अंशों में मान्य होते हुए भी मोक्ष रूप आत्म-तत्त्व की गवेषणा करने में विपरीतपथावलम्बी होजाने से सर्वथा मान्य नहीं हो सकते हैं। यद्यपि ये दर्शन भी श्रुतियों के आधार पर ही लिखे गये हैं और उनकी सृष्टि-प्रक्रिया आदि कई अंश श्रुति के अनुकूल हैं तथापि श्रुति आदि सारे साधनों का लक्ष्य जो एकमात्र आत्म-तत्त्व है उसीके विवेचन में खींचातानी करके श्रुतियों के तात्पर्य से बाहर हो गये हैं यह बात आगे इस ग्रन्थमें युक्ति और श्रुतियों के समन्वय आदि से अच्छी तरह सिद्ध करके साबित कर दी गयी है।

सब से विपरीत सिद्धान्त मानने वाला प्राचीन समय में चार्वाक था वह महा नास्तिक था अतः सबसे बहिष्कृत था। उसके मत को मानने वाले उसके शिष्य, उपशिष्य सब चार्वाक नाम से पुकारे जाते हैं। उसका मत तात्कालिक सुखप्रद दीखनेसे पतनोन्मुख युग में कुछ लोगों को ठीकसा जँचने लग जाता है क्योंकि चार्वाक मत में स्वर्ग, वैकुण्ठ आदि परलोक कहीं कुछ नहीं है और वहां के सब सुख-भोग आकाश-पुष्प की तरह झूठे हैं। प्रारब्ध अथवा अन्य किसी प्रकार की कोई अदृष्ट शक्ति इस सृष्टि का सूत्रधार नहीं है।

प्रत्यक्ष के सिवाय अन्य प्रमाण को वह नहीं मानता है। मानव जीवन के उद्देश को सफल बनाने के लिये भगवद्भक्ति, उपासना, तत्त्वज्ञान आदि साधन, जो शास्त्रों में बतलाये गये हैं,

चार्वाकके मत में वे सब लोगों को ठगने के लिये आडम्बर-पूर्ण स्वांग रचे गये हैं ऐसा माना जाता है। पितरों के निमित्त तर्पण, श्राद्ध आदि क्रियाएँ परम उपहासास्पद कही गयीं हैं।

दान देना आदि धर्म को भोली भाली जनता को ठगकर धन कमाने का रोजगार कहा जाता है। रौरव आदि नरकों के नाम से भय दिखाना बुद्धिमानों का अपना उल्लू सीधा करना है। इन्द्र आदि देवता भी नहीं माने जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शास्त्रकार ऋषियों को धूर्त्त, चालाक, स्वार्थ-साधक और पक्षपाती कहा जाता है।

धन, स्त्री, पुत्र आदि जो सांसारिक विषय हैं, उनके प्राप्त होने और उपयोग करने से जो सुखानुभव होता है वही पुरुषार्थ है। स्वाध्याय-चिन्तन, तपस्या अन्य कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है। इस संसार का जो सर्वोच्च सुख है जो प्रत्यक्षरूप से सबके अनुभव में आसकता है वही परम पुरुषार्थ है। इस शरीर का विनाश होना ही मोक्ष है। राजा ही ईश्वर है उसके सिवाय अन्य किसी प्रकार का कोई ईश्वर नहीं है।

यह प्रत्यक्ष दीखने वाला भौतिक देह ही आत्मा है। इस शरीर के सिवाय अन्य कोई आत्मा नहीं है। जैसे कई चीजों के संमिश्रण से जो मद्य बनता है उसमें एक वह अद्भुत मादकता शक्ति आ जाती है जो उसके उपादान कारण में नहीं देखी जाती है। इसी प्रकार अचेतन वायु, तेज, जल, पृथिवी के संमिश्रण होने से इस शरीर में चैतन्य शक्ति आ जाती है।

उक्त प्रकार का जो चार्वाक मत है वह दूर दर्शिता से सर्वथा रहित है क्योंकि परलोक के नहीं रहने और इस शरीर के पुण्य-पाप से भविष्य में कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहने से इस सृष्टि का जो महान् सुख-दुःखका तारतम्य-वैचित्र्य है वह कैसे रहता !

एक ही रज-वीर्य से उत्पन्न बालक एक सुखी, धनवान्, नीरोग रहता है एक दुःखी, दरिद्र और रोगी हमेशः रहता है। एक ही विद्यालय में एक ही गुरु से पढ़ने वाले एक महा परिश्रमी छात्र को विद्या उस प्रकार नहीं आवी है जिस प्रकार उसी गुरु से पढ़ने वाले अल्प परिश्रमी छात्र को विद्या आजाती है। पुण्य-पाप और पूर्व जन्म के कर्म के संबंध नहीं मानने से उक्त प्रकार का सुख-दुःख का विभेद कैसे दीखने में आता; इत्यादि विवेचन करने से परलोक और यहां के पुण्य-पापों का भविष्य में सम्बन्ध सब कुछ मानने ही पड़ते हैं।

संसार की एक साधारण सी वस्तु का भी बिना सूत्रधार के सञ्चालन होते जब नहीं दीखता है तब उच्चावचरूप से इस विषम सृष्टि का नियम से सञ्चालन होना बिना किसी सूत्रधार के सर्वथा असम्भव है अतः प्रारब्ध आदि अदृष्ट शक्ति को इस सृष्टि का नियामक (संचालक) मानना ही पड़ता है। किसी तालाब या गड्ढे आदि में प्रत्यक्ष में छोटे बच्चे के नहीं गिरने पर भी केवल उसके अत्यन्त नजदीक पहुँच जाने से ही तालाब आदि में बच्चे के गिर जाने का अनुमान करके लोग बच्चे को

पकड़ लेते हैं और वहां से उसे हटा देते हैं इस प्रकार अनुमान प्रमाण संसार में ज्वलन्तरूप से व्यवहृत है।

किसी आप्त पुरुष (श्रद्धेय पुरुष) से सुनकर या उसके पत्र पढ़कर अपने प्रवासी पति के जीने-मरने तक का स्त्री निश्चय कर लेती है और पति के अस्तित्व या मृत्यु के प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी आप्त वचनसे अथवा पत्रानुसार सधवापन या विधवापन का घरमें आचरण करने लग जाती है। जनता में इस प्रकार के व्यवहार दिन रात देखने से यह निश्चित होता है कि प्रत्यक्ष के सिवाय अनुमान आदि अन्य प्रमाण भी अवश्य मन्तव्य हैं। उनके नहीं मानने से काम नहीं चल सकता है, इसी प्रकार शास्त्र में कथित भगवद्भक्ति, उपासना आदि सारे आप्त वचन मान्य हैं जो लोगों के परम हितकर हैं।

धन, स्त्री, पुत्र आदि विषयों से उत्पन्न होने वाला सुख क्षणिक है और वह कभी दुःखरूप में भी परिणत हो जाता है, अतः सांसारिक सुख पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता है। सच्चा पुरुषार्थ तो आत्मा का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना है, जो एक रूप से सर्वदा टिकाऊ 'यत्परोनास्ति' आनन्दानुभव है।

राजा ईश्वर नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्येक दिन लोगों की सुषुप्ति (घोर निद्रा) की जब अवस्था आती है तब सब समान हो जाते हैं। घोर निद्रा में राजा और रंक में कुछ भी फरक नहीं रहता है। उस समय राजा अपने राज्य का अनुभव नहीं करता है और रंक भी अपनी दरिद्रता का अनुभव नहीं

करता है। व्याधि, दुःख, मृत्यु आदि सांसारिक यातनायें साधारण व्यक्ति के समान राजा को भी देखने में आती हैं अतः राजा को ईश्वर कहना लड़कों का विवेक-शून्य प्रलाप है।

इस भौतिक देहको आत्मा कहना भी सर्वथा युक्ति-विरुद्ध है क्योंकि लोगोंमें "मैं देह हूं" ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती है किंतु "मेरा देह है" ऐसा ही सुना जाता है। 'मैं' शब्द से आत्मा का ज्ञान होता है। यदि देह ही आत्मा रहता 'मैं देह हूं' ऐसा ही कहा जाता।

इससे यह साबित होता है कि देह से भिन्न आत्मा है। यह देह यहां ही रह जाता है और आत्मा का परलोक गमन होता है। अपने कर्मानुसार उसे पुनः नवीन देह धारण करना पड़ता है और तदनुसार ही सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं, इस प्रकार की विचित्रता का अनुभव रखता हुआ कोई बुद्धिमान् कैसे कह सकता है कि देह ही आत्मा है।

इस प्रकार चार्वाक-मत युक्ति रहित है अतः सर्वथा बहिष्कृत है इसका सविस्तर निराकरण आगे किया जायगा। अतः एकमात्र वेदान्त दर्शन ही आर्यावर्त्त का गौरव बढ़ाने वाला सर्वोच्च दर्शन माना जाता है, यही एकमात्र सत्पथ-प्रदर्शक सिद्ध होता है। वेदान्त दर्शन का सच्चा अधिकारी वही हो सकता है जो मल-विक्षेप दोष से रहित है और साधन-चतुष्टय-सम्पन्न है।

जीवों के अन्तःकरण में अतिसूक्ष्मरूप से अवस्थित अनेकानेक जन्मों का जो पाप-संचय है वही मलदोष है, उस

मलदोष के निराकरण करने का साधन जो निष्कामरूप से कर्मानुष्ठान है, शास्त्रानुसार अपने २ वर्णाश्रम धर्म का पालन करना है उसका विशदरूप से विवेचन मैंने 'धर्म भक्ति रत्नाकर' में किया है और जीवों के अन्तःकरण में जन्म-जन्मान्तर की अनेक प्रकार की वासनाएँ भरी पड़ी रहती हैं उन वासनाओं से चित्त की चंचलता सदैव प्रबल रहती है जिससे किसी एक विषय में बुद्धि ठहरने नहीं पाती है अतः शान्ति-लाभ से वंचित रहती है, वही चंचलतास्वरूप चित्त-वृत्ति विक्षेप दोष है। उस विक्षेप दोष के निराकरण करने के उपाय भगवद्भक्ति, सगुण-निर्गुण उपासना, चित्तवृत्ति-निरोध हैं।

उनमें से भगवद्भक्ति और दोनों प्रकार की उपासना का सविस्तर वर्णन भी उसी ग्रन्थ में कर दिया गया है किन्तु चित्त-वृत्ति-निरोध करनेका जो यौगिक सम्प्रदाय है, आत्मतत्त्व के साक्षात्कार में जिसकी अत्यन्त उपयोगिता है उसका सविस्तर विवेचन नहीं किया गया है अतः इस ग्रन्थ में प्रथम उसका ही साधन रूप से सविस्तर वर्णन करके पश्चात् अपने प्रतिपाद्य वेदान्त विषय का वर्णन किया गया है।

यद्यपि वेदान्त का विषय आत्म तत्त्व—विवेक है और उसका विचार मैंने 'ज्ञान रत्नाकर' में कर दिया है तथापि इस ग्रन्थ में प्रतिपक्षीगणों के मत-मतान्तर दिखाकर और उनके मतों का खण्डन करके समीचीन से समीचीन युक्तियों तथा श्रुतियों से आत्म-तत्त्व का विवेक किया गया है।

वायु के वेग में पड़कर वृक्ष के पत्ते जिस प्रकार हिला करते हैं उसी प्रकार सांसारिक पदार्थों के राग-द्वेष रूपी महावायु में पड़ी हुई चित्त-वृत्ति कभी स्थिर नहीं होने पाती है। उसके सामने जब भगवद्भक्ति, भगवत्कथा और मोक्ष शास्त्र की चर्चा आ जाती हैं तभी वह उसका अनादर कर स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक विषयों में रमण करने लग जाती है, इसीसे तत्त्व-साक्षात्कार में बुद्धि समर्थ नहीं होने पाती।

उस बुद्धिकी जो चञ्चलता है वह अग्निकी उष्णता की तरह स्वाभाविक नहीं है, किंतु औपाधिक है अर्थात् अपने अनुकूल पदार्थोंको प्राप्त करने और प्रतिकूल पदार्थों को छोड़ देने की जो अनन्त काल से भावना चली आती है, जिसे राग-द्वेष कहते हैं, उसीसे आविष्ट रहने के कारण चित्त सदैव चञ्चल रहता है, सारांश यह कि चित्तकी चञ्चलता का विनाश तब हो सकता है जब विषयों में राग-द्वेष न रहें अर्थात् जब तक संसार के सारे विषय समान रूपसे न दीखने लगें, कोई भला और कोई बुरा न दीखता रहे अर्थात् किसी में अनुकूलता और किसी में प्रतिकूलता न रहे तभी राग-द्वेष नष्ट हो सकते हैं और किसी विषय में जो अनुकूल भाव और किसी विषय में प्रतिकूल भाव है वह तभी हट सकता है, जब भेद-बुद्धि (द्वैत भाव) विनष्ट हो जाय और वह भेद-बुद्धि अर्थात् द्वैत ज्ञान तब विनष्ट हो, जब उसके विरोधी अद्वैत ज्ञान उत्पन्न हो।

अद्वैत ज्ञान तभी हो सकता है जब संसारके सारे विषयों में

मिथ्यात्व का निश्चय हो जाय अर्थात् यह संसार मृग-तृष्णाकी तरह झूठा है ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाय और ऐसा दृढ़ निश्चय वेदान्त वाक्यों के श्रवण, मनन आदि साधनों के यथाविधि अनुष्ठान करने से होता है और श्रवण आदि साधनों की तरफ तब प्रवृत्ति होती है जब जगत् के पदार्थों में दोष-दृष्टि हो जाय। वह दोष-दृष्टि भी तभी हो, जब उन पदार्थों में अनन्त काल से लगी हुई वासना की निवृत्ति हो जाय अतः सबसे प्रथम वासना का स्वरूप और उसकी निवृत्ति के साधन का निरूपण करते हैं।

वासना

दृढ़भावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥

आगे पीछे का बिना विचार किये ही केवल दृढ़ प्रेम से विषयों का जो ग्रहण करना है उसे वासना कहते हैं।

वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा ।
मलिना जन्मनो हेतुः शुद्धा जन्मनिवारिणी ॥

(योग वासिष्ठ)

वासना दो प्रकार की होती है, एक शुद्ध वासना दूसरी मलिन वासना; उनमें मलिन वासना तो जन्म का कारण होती है अर्थात् मलिन वासना से जीव जन्म-मरण स्वरूप बन्धन में फंसा रहता है और शुद्ध वासना उसके विपरीत जन्म-मरण स्वरूप बन्धन से जीव को मुक्त कर देती है।

मलिन वासना

अज्ञानसुघनाकारघनाहंकारशालिनी ।
पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः ॥

आत्मा के वास्तव स्वरूप का आवरण करने वाला जो अज्ञान है उस अज्ञान से बढ़े हुए घने अहंकार से युक्त बार-बार जीव को जन्म-मरण रूप दुःख देने वाली जो वासना है उसे पण्डितों ने मलिन वासना कहा है ।

उस अज्ञान-युक्त महान् अहंकार का स्वरूप भगवान ने निरूपण किया है । जैसे—

इदमद्यमया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मयाहतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
(गीता १६।१३,१४,१५)

अर्थात् मैंने इसे लाभ किया और इस मनोरथ को प्राप्त करूंगा । यह धन है और भी फिर धनको प्राप्त करूंगा । इस शत्रु को मारा है और दूसरों को मारूंगा । मैं राजा हूं, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान् और सुखी हूँ । मैं धनी और कुलीन हूं, मेरे समान कोई दूसरा नहीं है । मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, खुश रहूँगा इस प्रकार के अज्ञान से लोग मोहित रहते हैं ।

शुद्ध वासना

पुनर्जन्माङ्कुरं त्यक्त्वा स्थिता संभ्रष्टबीजवत् ।
देहार्थं भ्रियते ज्ञातज्ञेया शुद्धेति चोच्यते ॥
(योग वासिष्ठ)

जिस वासना की पुनर्जन्म देने की शक्ति विनष्ट हो चुकी है, जो जले हुए बीज की तरह शक्ति-रहित होकर केवल वर्त्तमान देह धारण के लिये ही रहती है और जिस वासना से तत्त्वज्ञान हो जाता है उसे शुद्ध वासना कहते हैं।

साधारणतया मलिन वासना तीन प्रकार की होती है, लोक वासना, शास्त्र वासना, देह वासना।

लोकवासनया जन्तोर्देहवासनयापि च ।
शास्त्रवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥

लोक वासना, शास्त्र वासना और देह वासना इन तीनों वासनाओं में से किसी प्रकार की वासना जिन्हें रहती है उन्हें आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है।

लोक वासना

सारे संसार के लोग हमारी स्तुति करें इस प्रकार के अभिनिवेश (दृढ़ भावना) को लोक वासना कहते हैं। यह लोक वासना करोड़ों जन्म तक लगी रहती है क्योंकि सब गुण सम्पन्न भगवान् रामचन्द्र और श्रीकृष्ण की भी सब लोग स्तुति नहीं करते थे। कई एक नीच व्यक्ति निन्दा

किया करते थे अतः जिज्ञासु को इस दुष्प्राप्य लोक वासना का परित्याग कर देना चाहिये। जैसा कहा है—

विद्यते न खलु कश्चिदुपायः सर्वलोकपरितोषकरो हि यः।
सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः॥

सब लोगों को प्रसन्न रखने का कोई उपाय नहीं है अतः सर्वथा अपनी भलाई का काम करना चाहिये; लोग बहुत कुछ बोल कर क्या करेंगे। भर्तृहरिने भी कहा है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

बड़े २ नीतिज्ञ निन्दा करें अथवा स्तुति करें, लक्ष्मी आवें या भले ही चली जायँ, आज ही मृत्यु हो अथवा युगान्तर में हो किन्तु धीर पुरुष न्याय के पथ से एक पग भी नहीं डिगते हैं। लोकवासना मोक्षके पथमें भी बाधक होती है। जैसे कहा है—

न लोकचित्तग्रहणे रतस्य न भोजनाच्छादनतत्परस्य
न शब्दशास्त्राभिरतस्य मोक्षो नचातिरम्यावसथप्रियस्य॥

जो मनुष्य लोगों के चित्त को रंजन करने में तत्पर रहते हैं अर्थात् लोगों को खुश करने में लगे रहते हैं और जो भोजन, आच्छादन में ही लगे रहते हैं और जो मनुष्य व्याकरण आदि अनात्म बोधक शास्त्र में ही रत रहते हैं और जिन्हें अत्यन्त रमणीय गृहों में ही प्रेम है उन्हें मोक्ष नहीं प्राप्त होता है।

शास्त्र वासना

शास्त्र के तात्पर्य को नहीं समझ कर शास्त्र के अध्ययन आदि की जो वासना है उसे शास्त्र वासना कहते हैं।
शास्त्र वासना भी तीन प्रकार की होती है। पाठ वासना, अर्थ वासना, अनुष्ठान वासना।

पाठ वासना

वेद शास्त्र के तात्पर्य को नहीं समझकर सारी उमर वेद शास्त्र के अध्ययन करने को पाठ वासना कहते हैं।

यह पाठ वासना भरद्वाज मुनि को हुई थी भरद्वाज मुनि आयु के तीन भाग अर्थात् ७५ वर्ष तक बिना तात्पर्य समझकर ही वेद शास्त्रोंका अध्ययन करते रहे, अत्यन्त वृद्ध अवस्था में इन्द्रने आकर उनसे कहा—हे भरद्वाज ! इस आयु के चतुर्थ भाग में तुम क्या करोगे ? 'वेदका अध्ययन करूंगा' यह सुनकर इन्द्र ने मुनिकी पाठ वासना निवृत्त कराने के लिये पर्वत की तरह वेद की ढेरको दिखाया और उससे एक मुट्ठी भर कर दिखाया कि तुम इतने दिनों तक इतना ही (मुट्ठी भर ही) वेद का अध्ययन कर सके हो, अभी पर्वत की तरह यह वेद की ढेर बाकी है यह सुनकर भरद्वाज मुनि की पाठ वासना निवृत्त हुई, तब इन्द्र ने उन्हें ब्राह्मी विद्या (मोक्ष शास्त्र) का उपदेश दिया है; ऐसी कथा सुनी जाती है।

अर्थ वासना

वेद शास्त्र के तात्पर्य को नहीं समझकर सारी उमर वेद शास्त्र के अर्थ का अध्ययन करते जाना इसीको अर्थ वासना कहते हैं। किसी ने ठीक कहा है—

अनन्त शास्त्रं बहुवेदितव्य-
मल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः।
यत्सारभूतं तदुपासितव्यम्
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रम् ॥

शास्त्र अनन्त हैं, जानने योग्य विषय भी बहुत हैं, उमर थोड़ी है, उसमें विघ्न भी बहुत होते रहते हैं इसलिये व्यर्थ की बातें छोड़कर जो सार हो उसीको ले लेना चाहिये। जैसे हंस जल से मिले रहने पर भी जल को छोड़कर दूध को ही पी लेता है।

अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
यस्तु ब्रह्म न जानाति दर्वी पाकरसं यथा ॥

चारों वेदों को और अनेकानेक धर्म शास्त्रों को पढ़कर भी जो ब्रह्म ज्ञान से वञ्चित है उसका पढ़ना बिलकुल व्यर्थ है। जैसे दर्वी (कर्छुली) अनेक प्रकार के व्यञ्जनों में फिरती रहती है किन्तु पाक के रस को कुछ भी नहीं जानती है।

अनुष्ठान वासना

श्रुति-स्मृतियोंमें जो विहित कर्म कहेगयेहैं उन कर्मोंके अनुष्ठान में ही सारी आयु बिता देने को अनुष्ठान वासना कहते हैं।

यह अनुष्ठान वासना निदाघ नामक मुनि को हुई थी। ऋभु मुनि के बार बार उपदेश देने पर उसकी अनुष्ठान वासना निवृत्त होने से तत्त्व ज्ञान हुआ, यह कथा विष्णुपुराण में विस्तार-पूर्वक कही गई है। उपर्युक्त तीन प्रकार की जो शास्त्र वासना कही गयी है और उसे मलिन वासना कहकर उसका त्याग करने के लिये जो कहा गया है, वह ब्रह्म तत्त्व के जिज्ञासु के लिये ही कहा गया है अर्थात् मल-विक्षेप दोष रहित, साधन चतुष्टय-सम्पन्न जो अधिकारी है उसीको इन वासनाओं का त्याग कर देना चाहिये और जिसके अन्तःकरण में मल-विक्षेप दोष विद्यमान हैं, साधन चतुष्टय प्राप्त नहीं हुआ है उसको तो शास्त्र वासना का ग्रहण करना ही उचित है क्योंकि शास्त्रों के अध्ययन करने, उनके अर्थों के अध्ययन करने और उनके अनुष्ठान करने से इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में उत्तम फल प्राप्त होता है और मल-विक्षेप दोष दूर होने से अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मज्ञान होता है।

देह वासना

इस पांच भौतिक स्थूल शरीर में जो अत्यन्त प्रेम है उसी को देह वासना कहते हैं। देह वासना दो प्रकार की होती है। देह विषयक, देह सम्बन्धी गुण विषयक।

देह विषयक वासना

'मैं मनुष्य हूं, मैं ब्राह्मण हूं' इस प्रकारका जो अभिमानरूप वासना है वह देह विषयक वासना है, देह सम्बन्धी गुण

विषयक वासना दो प्रकार की होती है:—शास्त्रीय, लौकिक। शास्त्रीय, लौकिक वासना भी दो दो प्रकार की होती है। एक गुणाधान प्रयुक्त वासना, दूसरी दोष निवृत्ति प्रयुक्त वासना।

शास्त्रीय गुणाधान प्रयुक्त

शास्त्र विहित गंगा स्नानादि के द्वारा देह में सद्गुणों के धारण करने की जो वासना है उसे शास्त्रीय गुणाधान प्रयुक्त वासना कहते हैं।

शास्त्रीय दोष–निवृत्ति प्रयुक्त

शास्त्र विहित प्रायश्चित्तादि करके देह से अपने पाप निवृत्ति करने की जो वासना है उसे शास्त्रीय दोष-निवृत्ति प्रयुक्त वासना कहते हैं। इसी प्रकार लौकिक वासना भी दो प्रकार की होती है:-एक गुणाधान प्रयुक्त, दूसरी दोष-निवृत्ति प्रयुक्त।

लौकिक गुणाधान प्रयुक्त

सुगन्ध तेल, सुन्दर आभूषण, सुन्दरवस्त्र, माला, चन्दन आदि से देह के रूप को उत्कृष्ट बनाने की जो वासना है उसे लौकिक गुणाधान प्रयुक्त वासना कहते हैं।

लौकिक दोष–निवृत्ति प्रयुक्त

मल मूत्र के त्याग, दतवन, स्नान आदि शौच कर्म से जो देह के दोषों की निवृत्ति करने की इच्छा है उसे लौकिक दोष-निवृत्ति प्रयुक्त वासना कहते हैं। आवश्यकता से

अधिक मात्रा में देह वासना का भी जिज्ञासु को परित्याग कर देना चाहिये।

वासना निवारण के सरल उपाय

मद (अभिमान) से वासना की वृद्धि होती है क्योंकि मैं "ऐसा प्रभावशाली हूं" इस प्रकार का अभिमान जब मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होता है तब उस अभिमान के अनुसार संसार के पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है वही इच्छा वासना को जागृत किये रहती है, अतः मद की निवृत्ति करना अत्यन्त आवश्यक है। मुख्य रूपसे मद चार प्रकारके होते हैं:— विद्यामद, धनमद, कुलमद और आचारमद।

विद्यामद

सारे संसार में सब से बड़ा विद्वान् मैं ही हूं, मेरी सब जगह शास्त्रार्थ में विजय होती है इस प्रकार का विद्या का जो अभिमान मन में उत्पन्न होता है उसे विद्यामद कहते हैं।

धनमद

मैं एक अच्छा धनवान् हूँ। मैं धन के बल से बहुत विषय भोग कर सकूंगा, अन्य लोग सब दरिद्र हैं, मैं उनके ऊपर शासन करूंगा इस प्रकारका जो मन में धनका अभिमान उत्पन्न होता है उसे धनमद कहते हैं।

कुलमद ।

मेरा सब से अच्छा कुल है। मैं कुलवान् पुरुष हूँ और लोग नीच कुल के हैं, मुझसे क्या बोल सकेंगे इस प्रकार का जो कुल का अभिमान उत्पन्न होता है उसे कुलमद कहते हैं।

आचारमद

मेरा आचार सब से अच्छा है। मैं एक आचारवान् पुरुष हूं, अन्य लोगों का आचार मुझसे नीच है इस प्रकार आचार का जो अभिमान उत्पन्न होता है उसे आचारमद कहते हैं। उपर्युक्त चारों मदों का निवारण करना जिज्ञासु के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

विद्यामद का निवारण

इस संसार में बालाकि और शाकल्य जैसे बड़े २ धुरन्धर विद्वान् हो चुके हैं जिन्होंने बड़े २ पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की थी किन्तु वे भी अजातशत्रु और याज्ञवल्क्यसे शास्त्रार्थ में पराजित हो चुके हैं अर्थात् इस संसार में एक से एक बड़ा विद्वान् रहता है कोई भी मनुष्य सब से बड़ा विद्वान् नहीं हो सकता है। सब से बड़ा विद्वान् तो दक्षिणामूर्ति सदाशिव ही हैं, क्योंकि वह सब के आदि गुरु हैं, उनमें ही विद्या का निरतिशय उत्कर्ष है उनसे अतिरिक्त लोगों में सातिशय विद्या ही रहती है अर्थात् विद्या का न्यूनाधिक्य रहता ही है। जब बालाकि, शाकल्य शास्त्रार्थ में पराजित हो चुके हैं तो फिर

हम साधारण व्यक्तियों का विद्या का अभिमान क्या हो सकता है। झूठा हमारा अभिमान है, इस प्रकार सदैव चिन्तन करने से विद्यामद की निवृत्ति हो जाती है।

धनमद का निवारण

जिस कार्य को लक्षपति व्यक्ति कर सकता है उसे सहस्र-पति नहीं कर सकता है और जिस कार्य को करोड़पति कर सकता है उसे लक्षपति भी नहीं कर सकता है और उससे भी जो अधिक धनवान् व्यक्ति है उसके आगे करोड़पति भी छोटा हो जाता है। सब से ज्यादा धनवान् कुबेर देवता हैं वैसा कोई भी मनुष्य धनी नहीं है, उन धनवानों के सामने मेरे जैसे रंक की क्या गिनती है। पृथ्वी पर एक से एक धनवान् वर्त्तमान हैं जैसा कहा है—

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति॥

अर्थात् अपने से नीचे व्यक्ति पर दृष्टि डालने से सब से अपनी महिमा बड़ी मालूम पड़ने लगती है और अपने से ऊपर श्रेणी के लोगों पर दृष्टि डालने पर अपने को सब दरिद्र समझने लग जाते हैं इस प्रकार सदैव चिन्तन करने से धनमद का निवारण हो जाता है।

कुलमद का निवारण

इस विशाल संसार में मुझसे कहीं अधिक कुलवान्

पुरुष विद्यमान हैं। मैं उनके आगे तुच्छ से भी तुच्छ हूँ। जब बड़े २ राजर्षि, महर्षिका भी कुलमद नष्ट गया तो मेरी क्या गिनती, इस प्रकार विचार करने से कुलमद का निवारण हो सकता है।

आचारमद का निवारण

संसार में मुझसे बहुत ज्यादा आचारवान् पुरुष विद्यमान हैं किसी मनुष्य में भी कोई वस्तु निरतिशय (सब से अधिक) नहीं रहती है। संसार में सर्वत्र न्यूनाधिक्य रहता ही है, जब विश्वामित्र, पराशर जैसे तपस्वी व्यक्तियों का भी आचारमद नष्ट हो गया, तब मेरे जैसे तुच्छातितुच्छ व्यक्तिकी क्या गिनती है इस प्रकार सदैव चिन्तन करने से आचारमद विनष्ट हो जाता है। आचार दो प्रकार के हैं:—बाह्य, आन्तर।

बाह्य आचार

स्नान आदि जो इस स्थूल देह की शुद्धि है उसे बाह्य आचार कहते हैं।

आन्तर आचार

काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि जो मन को विकृत करने वाले शत्रु हैं उनके ऊपर विजय करने को आन्तर आचार कहते हैं अर्थात् मनमें जिससे कामादि शत्रुओं का प्रवेश न हो। उक्त दोनों प्रकार के आचार-युक्त पुरुष एक से एक बड़े संसार में विद्यमान हैं।

मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा के सेवन करने से भी चित्त निर्मल होता है भगवान् पतञ्जलि ने जैसा कहा है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥

(योग० १।३३)

सुखी व्यक्ति में मैत्री की भावना अर्थात् सुखी व्यक्ति को देखकर प्रसन्न होना (इस भावना से चित्त का ईर्ष्यारूप मल नष्ट हो जाता है) दुःखी व्यक्ति में करुणा की भावना अर्थात् अपनी आत्मा की तरह दूसरों के दुःख हटाने की इच्छा करना (इससे दूसरों के प्रति बुराई करने की इच्छा जो चित्त में रहती है वह विनष्ट हो जाती है) और धर्मात्मा व्यक्ति में मुदिता की भावना अर्थात् धर्मात्मा व्यक्ति को देखकर हृष्ट (खुश) होना (इस भावना से चित्त की असूया विनष्ट हो जाती है अर्थात् गुण में जो दोष-दृष्टि रूप चित्त का मल है वह विनष्ट होता है) पापी व्यक्ति में उपेक्षा की भावना अर्थात् पापी व्यक्ति को देखकर उदासीन हो जाना (इस भावना से चित्त सहनशील हो जाता है)।

इस प्रकार मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा के भाव चित्त में उत्पन्न होने से राग-द्वेष, मद आदि सारी मलिन वासनाएँ निवृत्त हो जाती हैं और अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, इसके अतिरिक्त सत्संग आदि से भी मलिन वासना की निवृत्ति होती है। जैसे—

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमो द्वारं योषितां संगिसंगम् ।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ताः
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥

विद्वान् पुरुषों ने महान् पुरुषों की सेवा को मुक्ति का साधन कहा है और वे पुरुष महान् कहलाते हैं, जो शत्रु, मित्र सबको समान समझते हैं और शान्त तथा क्रोध-रहित हैं, जिनका हृदय शुद्ध है और जो साधु हैं ऐसे महा पुरुषों का जो श्रद्धा और भक्ति से संग करता है उसके चित्त की मलिन वासना निवृत्त हो जाती है और जो इसके विपरीत आचरण करता है वह विनष्ट हो जाता है। जैसा कहा है—

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या पतंगवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥

स्त्री, सुवर्ण, गहने, वस्त्र इत्यादि माया-रचित जो पदार्थ हैं उन पदार्थों में जो पुरुष मोहित रहते हैं और उनमें जिनका लोभ है, वह मूर्ख पतंग की तरह उपभोगकी बुद्धि से विनष्ट होजाते हैं। सारांश यह कि महत्पुरुषों के संग से मलिन वासना नष्ट हो जाती है और स्त्री, धन आदि के उपभोग में रत रहने से मलिन वासना और भी बढ़ जाती है जो बन्धन का कारण है।

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च ।
वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥
(योगवासिष्ठ)

अध्यात्म विद्या की प्राप्ति, साधु संग, वासना का परित्याग, प्राणायाम इन चार प्रकार के उपायों से चित्त-वृत्ति का निरोध होता है।

अध्यात्मविद्याधिगम

प्रत्यक् आत्मा को ब्रह्म रूप से प्रतिपादन करने वाली जो विद्या है उसे अध्यात्म विद्या कहते हैं, उस विद्या की जो प्राप्ति है वही अध्यात्मविद्याधिगम है।

यह सारा नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है, मैं ही सर्वत्र परिपूर्ण, परमानन्द, एक रस हूँ। मुझसे भिन्न कुछ भी कार्य-कारण रूप प्रपंच नहीं है, मैं ही सर्व रूप हूं इस प्रकार की अध्यात्म विद्या प्राप्त हो जाने से यह सारा जगत् मिथ्या रूप से भासित होने लगता है और मिथ्या वस्तु में बुद्धिमान् पुरुष को राग-द्वेष नहीं होते हैं और राग-द्वेष रहित होने से विक्षेप नष्ट होकर चित्त वृत्ति का निरोध हो जाता है। चित्त वृत्ति के निरोध होने से मलिन वासना सर्वात्मना विनष्ट हो जाती है।

साधु संगम

जिस पुरुष को बुद्धि की मन्दता के कारण अध्यात्म विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती है उस पुरुष को साधु संगम करना चाहिये जिससे मलिन वासना की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि साधु महात्मा लोग भी श्रद्धा-भक्ति सम्पन्न पुरुष को जीव-ब्रह्म के अभेद का उपदेश देते रहते हैं और अनेकानेक युक्तियों, प्रमाणों

से इस जगत को मिथ्या साबित करते रहते हैं, जिसके श्रवण से चित्तकी चञ्चलता और मल तथा आवरण निवारण होजाते हैं।

वासना संपरित्याग

विवेक के द्वारा मद आदि रूप मलिन वासना की जो निवृत्ति है उसे वासना संपरित्याग कहते हैं। इससे अपने चित्त पर मनुष्य की विजय हो जाती है।

प्राणस्पन्द निरोध

प्राणायामदृढाभ्यासाद्युक्त्या च गुरुदत्तया ।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥

पूरक, कुम्भक, रेचक के भेद से तीन प्रकारके जो प्राणायाम हैं उनके दृढ़ अभ्यास करने से, योगी गुरु के द्वारा बतलाई हुई युक्ति से, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि आसन-योग से तथा योगाभ्यास के अनुकूल जो भोजन-विधान है उससे प्राणों को गति का निरोध होता है। उपर्युक्त चारों उपायों से तथा पामर, विषयी पुरुषों के संसर्ग छोड़ने और जिज्ञासु तथा ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों के संसर्ग से विक्षेप को छोड़कर चित्त शान्त हो जाता है। विष्णु पुराण में जैसा कहा है—

निःसंगता मुक्तिपदं यतीनाम्
संगादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः ।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
संगेन योगी किमुताल्पसिद्धिः ॥

विषयासक्त पुरुषों के संसर्ग का परित्याग कर देना ही निःसंगता है और यही निःसंगता जिज्ञासुओं के लिये मुक्ति का मार्ग है, क्योंकि योग में जो पुरुष आरूढ़ है उनका अर्थात् योगाभ्यास करने वाले योगियों का भी संग-दोष से अधःपतन हो जाता है और जो पुरुष योग में आरूढ़ नहीं है, जिसकी सिद्धि अल्प है, संग-दोष से उसका पतन निश्चित ही है। योगी को अपने स्वरूप को छिपाकर इस संसार में रहना चाहिये, ताकि कोई परख न कर सके। शास्त्रों में जैसा कहा है—

तस्माच्चरेत वै योगी सतांधर्ममगर्हयन्।
जना यथावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव संगतिम्॥

योगाभ्यासी पुरुष श्रेष्ठ पुरुषों के धर्म को दूषित न करते हुए इस प्रकार संसार में भ्रमण करें, जिससे लोग उनका अपमान करें और उनकी संगति न करें। भगवान् वेद व्यासजी ने महाभारत में कहा है—

अहेरिव गणाद्भीतः सम्मानान्नरकादिव।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवाब्राह्मणं विदुः॥

सर्प से जैसे डरता है वैसे जो मनुष्य लोगों के समूह से डरता है, नरक के समान जो आदर-सत्कार से डरता है और मुर्दे से जैसे अलग रहता है वैसे जो पुरुष स्त्रियों से भय-भीत होकर अलग ही रहता है, उसी पुरुष को देवगण ब्राह्मण समझते हैं

अर्थात् लोगों की गोष्ठी को सर्प समझकर और आदर-सत्कार को नरक समझ कर और स्त्रियों को मुर्दा समझकर जिज्ञासु पुरुष इन सब से हटे रहें। इसी बात को भगवान् वेद व्यासजी ने श्रीमद्भागवत में भी कहा है—

संगं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना विसृजेद्बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन्रहसि चितमनन्त ईशे
युंजीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसंगः॥
स्त्रीणां तत्संगिनां संगं त्यक्त्वा दूरतः आत्मवान्।
क्षमी विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥

जिज्ञासु लोग विषयासक्त स्त्री-पुरुषों के संग को सर्वथा छोड़ दें और चक्षु आदिक इन्द्रियों को सांसारिक विषयों से रोक रखें, अकेला ही एकान्त स्थान में रहकर परमात्मा में मन लगावें, यदि अकेला न रह सकें, दूसरों का संग करें तो महात्मा पुरुष का ही संग करें। मोक्षार्थी पुरुष स्त्रियों के और स्त्री आसक्त पुरुषों के संग को दूर से परित्याग करदें और क्षमा विवेक से युक्त होकर आलस्य को छोड़ एकान्त में बैठकर मेरा चिन्तन करें क्योंकि इस प्रकार के ध्यान का उत्तम फल स्मृतियों में लिखा है। जैसे—

अहमस्मि परंब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययः।
इति यस्य स्थिरा बुद्धिः स मुक्तो नात्र संशयः॥

अविनाशी, वासुदेव, परब्रह्म मैं ही हूं ऐसी जिस पुरुष की बुद्धि स्थिर है वह पुरुष मुक्त ही है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

सकलमिदमहं च वासुदेवः
परमपुमान् परमेश्वरः स एकः ।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते
हृदयगते व्रज तान्विहाय दूरात् ॥

यह सारा संसार वासुदेव रूप ही है और मैं भी वासुदेव रूप ही हूं, वह वासुदेव परमेश्वर एक हैं इस प्रकारकी बुद्धि ईश्वर, जो सब के हृदय देश में विराजमान रहता है उसमें जिस पुरुष की निश्चल रहती है। हे दूत! उस पुरुष को छोड़कर तुम चलो अर्थात् उसके पास कभी मत जावो, यह यमराज का अपने दूतों से कहना है। सारांश यह कि जो पुरुष विषयासक्त लोगों के संग को छोड़कर ब्रह्म का चिन्तन करता है उसकी मलिन वासना की निवृत्ति हो जाती है; जिससे अनायास ही ज्ञान की प्राप्ति होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

योग की मीमांसा

चित्त के विक्षेप दोष को हटाने के लिये जो साधन योग शास्त्र में कहे गये हैं, जिनके प्राप्त होने से अवश्यमेव चित्त निर्मल हो जाता है तथा उस निर्मल चित्त में ज्ञानरूप सूर्य का उदय होने से अज्ञान रूप अन्धकार विनष्ट होजाता है और आत्मा का उस अनन्त, आनन्द, चैतन्य स्वरूप का प्रकाश होने लगता है, उन यौगिक साधनों का निरूपण करते हैं।

योग दर्शन में भगवान् पतञ्जलि ने मुख्य आठ प्रकार के साधन कहे हैं। जैसे—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि

(योग० २।२९)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि; ये आठ प्रकार के योग के अंग हैं। योग समाधि के दो भेद हैं:—संप्रज्ञात समाधि, असंप्रज्ञात समाधि; उनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार यह पांच तो संप्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं और धारणा, ध्यान, समाधि ये तीन संप्रज्ञात के अन्तरङ्ग साधन हैं, उनमें यम पांच प्रकार के होते हैं—

यम

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥

(योग० २।३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पांच प्रकार के यम हैं।

अहिंसा

शरीर, मन, वाणी इनसे किसी भी प्राणी की हिंसा न करना इसीको अहिंसा कहते हैं।

सत्य

वचन और मन की सत्यता को सत्य कहते हैं अर्थात् जैसा स्वयं देखा है या अनुमान किया है या सुना है वैसा ही बोलना,

मन में भी यथार्थ बात का ही चिन्तन करना और सच्चा भी वही बोलना जिससे प्राणियों को पीड़ा न पहुँचे।

अस्तेय

शास्त्र विधान के विरुद्ध दूसरों का जो धन नहीं लेना है, उसीको अस्तेय कहते हैं।

ब्रह्मचर्य

अन्य सारी इन्द्रियों को रोकते हुए उपस्थ (जननेन्द्रिय) को मैथुन कर्मसे सर्वथा रोक रखना इसीको ब्रह्मचर्य कहते हैं। अथवा आठ प्रकार के जो मैथुन कर्म कहे गये हैं उन्हें जो सर्वथा छोड़ना है उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं।

अपरिग्रह

धन आदि सांसारिक विषयों के उपार्जन (प्राप्ति) करने में कष्ट प्राप्त होता है तथा उनकी रक्षा करने में और उनके विनाश होने पर भी अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं और अनेक प्रकार की हिंसा करनी पड़ती है, इस प्रकार धन आदि विषयों में दोष का विचारकर उनका स्वीकार न करना इसीको अपरिग्रह कहते हैं।

मैथुन के आठ भेद

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ॥

स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय, क्रिया-निवृत्ति ये आठ प्रकार के मैथुन कहे गये हैं।

स्मरण

कामदेव से प्रेरित होकर भोग-बुद्धि से स्त्रियों का चित्त में चिन्वन करने को स्मरण कहते हैं।

कीर्त्तन

काम से प्रेरित होकर स्त्रियों के गुणों को कहना कीर्त्तन है।

केलि

काम से प्रेरित होकर स्त्रियों के साथ जुआ आदि खेलना केलि है।

प्रेक्षण

काम से प्रेरित होकर भोग-बुद्धि से स्त्रियों को देखना प्रेक्षण है।

गुह्य भाषण

काम से प्रेरित होकर भोग-बुद्धिसे एकान्त स्थान में स्त्रियोंके साथ वार्त्तालाप करना गुह्य भाषण है।

संकल्प

उपभोग करने के लिये स्त्रियों के प्राप्त करने की जो इच्छा है उसे संकल्प कहते हैं।

अध्यवसाय

उपभोग के लिये स्त्रियोंको प्राप्त करने का निश्चय करना अध्यवसाय है।

क्रिया-निर्वृत्ति

स्त्रियों के साथ संभोग (गमन) करने को क्रिया-निर्वृत्ति कहते हैं।

उपर्युक्त जो आठ प्रकार के मैथुन कहे गये हैं उनसे अलग रहना ब्रह्मचर्य है।

जिज्ञासु अवश्य उस ब्रह्मचर्य को धारण करें और यदि जिज्ञासु गार्हस्थ्य आश्रम में रहें तो उन्हें केवल अपनी स्त्री के साथ ही शास्त्र में बतलाये गये रास्ते से संभोग करना चाहिये। गृहस्थ को छोड़कर दूसरे आश्रम वाले को उक्त आठ प्रकार का मैथुन छोड़ देना चाहिये, क्योंकि आठों प्रकार के मैथुन छोड़ने से ही पूरा ब्रह्मचर्यका पालन होता है।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति सत्येन लभ्यस्तपसाह्येप आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्, अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः

इत्यादि श्रुतियों ने ब्रह्मचर्य को आत्मज्ञान का साधन कहा है। सत्संग से, देह में दोष-दृष्टि से, स्त्री के संग छोड़ने से और स्त्री-लम्पट पुरुष के भी संग छोड़ देने से ब्रह्मचर्य की रक्षा की जा सकती है।

सत्संग करने से स्त्रियों की तरफ प्रवृत्ति नहीं होती है, सत्संग की महिमा शास्त्र-पुराणों में बहुत कही गयी है। जैसे—

'त्रिजगति सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका'

अर्थात् संसाररूपी समुद्र से तरने के लिये सत्संग ही नौका है।

देह में दोषों का विचार प्रह्लाद ने किया है। जैसे कहा गया है—

मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ।
देहेचेत्प्रीतिमान् मूढो भविता नरकेऽपि सः॥

मांस, रुधिर, पूय, विष्ठा, मूत्र, नाड़ी, मज्जा इत्यादि मलिन पदार्थों के समूहरूप जो यह देह है उस देह में जिस मूर्ख का प्रेम है, उसका नरक में भी प्रेम हो सकता है।

स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान्।
वैराग्यकरणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते॥

जो मनुष्य अपने देह के अशुचि (खराब) गन्ध को अनुभव करके भी उस देह से विरक्त नहीं होता है उस मनुष्य को वैराग्य प्राप्त करने का कौनसा दूसरा उपाय कहा जाय।

विद्यारण्य स्वामी ने पञ्चदशी ग्रन्थ के तृप्ति दीप में इसका विवेचन किया है। जैसे—

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥

मांस की पुतली स्त्री है। नाड़ी, हड्डी और स्तन, नितम्ब आदि ग्रन्थि से युक्त है, सिर्फ यन्त्र से उसके सब अंग चलायमान हो रहे हैं, उसमें सुन्दरता क्या है! कुछ भी नहीं।

एवमादिषु शास्त्रेषु दोषाःसम्यक् प्रपञ्चिताः ।
विमृशन्ननिशं तान्हि कथं दुःखेषु मज्जति ॥

इस प्रकार शास्त्रों में देह के बहुत दोष कहे गये हैं, उन्हें सदैव विचार करता हुआ मनुष्य कैसे दुःखों में अर्थात् दुःख रूपी विषय-भोगों में फंस सकता है। सारांश यह कि इनके रात-दिन विचार करने से मनुष्य इस संसार-समुद्र में नहीं डूब सकता है। जिन शास्त्रों में स्त्री आदि विषयों के बहुत से दोष दिखाये गये हैं, उन शास्त्रों के भली भांति मनन करने से ब्रह्मचर्य की रक्षा की जा सकती है। ब्रह्मचर्य के अभिलाषी पुरुष को स्त्री का संग तो अवश्य त्याग देना चाहिये। जैसे कहा है—

न संभाषेत् स्त्रियं कांचित् पूर्वदृष्टां च न स्मरेत् ।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि ॥

मोक्षाभिलाषी मनुष्य किसी भी परायी स्त्री के साथ सम्भाषण न करे, पहले की देखी हुई स्त्री का चित्त में स्मरण भी न करे, स्त्रियों के सम्बन्ध की कथा भी न करे और चित्र आदि में लिखी हुई स्त्री को भी न देखे।

सारांश यह कि जिस स्त्री के सम्भाषण, स्मरण, उसके सम्बन्ध के आलाप और उसके फोटो के रूप देखने से काम का उद्दीपन हो, उस स्त्री के साथ सम्भाषण आदि का त्याग कर देना चाहिये। उपर्युक्त पांच प्रकार के यम योगाभ्यासी के मुख्य साधन हैं। अष्टाङ्ग योग का वह पहला अंग है।

नियम

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥
(योग० २।३२)

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान ये पांच प्रकार के नियम हैं। उनमें शौच दो प्रकार के होते हैं। आन्तर शौच, बाह्य शौच।

आन्तर शौच

मैत्री, करुणा आदि जो सद्भावनाएँ हैं, उनके द्वारा चित्त के राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि शत्रुओं का जो हटाना है, उसे आन्तर शौच कहते हैं।

बाह्य शौच

जल, मिट्टी आदि से जो शरीर को शुद्ध करना है, उसे बाह्य शौच कहते हैं।

सन्तोष

अपने प्रारब्ध कर्म के अनुसार जो कुछ भी मिले उसमें ही प्रसन्नता रखने को सन्तोष कहते हैं।

तप

भूख-प्यास को, सर्दी-गर्मी को, उठने-बैठने को और काष्ठमौन-आकार मौन को द्वन्द्व कहते हैं, उस द्वन्द्व को जीतना तप कहलाता है और कृच्छ्र, चान्द्रायण, सान्तपन आदि व्रतों के सेवन को भी तप कहते हैं।

किसी प्रकार की चेष्टा आदि अव्यक्तरूप से भी अपने अभिप्राय को प्रकाश न करना काष्ठमौन है और सिर्फ वचन न बोलना आकार मौन है।

स्वाध्याय

मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन करना अथवा प्रणव (ओंकार) का जप करना स्वाध्याय है।

ईश्वर-प्रणिधान

परम गुरु परमेश्वर में अपने सब कर्मों को निष्कपटभाव से समर्पण कर देना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। विष्णुपुराणमें कहा है—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतांमनसो नयन्॥
स्वाध्यायाशौचसन्तोपतपांसि नियतात्मवान्।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः॥
एते यमाः सनियमाःपञ्च पञ्च प्रकीर्त्तिताः।
विशिष्टफलदाःकाम्या निष्कामानां विमुक्तिदाः॥

अर्थात् इन यम-नियमों का सेवन योगी को निष्काम होकर अपने मन की योग्यता को बढ़ाते हुए करना चाहिये और परम-तत्त्व में मन लगा देना चाहिये।

ये जो पांच यम और पांच नियम कहे गये हैं, कामना करके सेवन करने से उनका विशिष्ट (उत्तमोत्तम) स्वर्गादिलोक की प्राप्ति रूप फल होता है और निष्काम भाव से करने से ज्ञान की प्राप्ति होकर मोक्ष फल मिलता है।

आसन-मीमांसा

स्थिरसुखमासनम् ।

(योग० २।४६)

चञ्चलता से रहित सुखदायक जो आसन है वही यौगिक आसन है। पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यङ्क, क्रौञ्चनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान, स्थिरसुख, यथासुख इत्यादि योग के आसन हैं।

आसन के साधन

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।

(योग० २।४७)

आसन के अभ्यास करते समय स्वाभाविक प्रयत्न (चेष्टा) नहीं करने से आसन की सिद्धि होती है अथवा अनन्त भगवान् में अर्थात् शेषनाग में, जिनकी अत्यंत निश्चल सहस्र फणाओंपर

यह पृथ्वी वर्त्तमान है, उनमें चित्त लीन कर देने से आसन की सिद्धि होती है।

आसन-सिद्धि का फल

आसनों की सिद्धि हो जाने से भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व पदार्थों का अभिघात नहीं होता है अर्थात् भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि सहन करने की शक्ति हो जाती है।

आसन दो प्रकार के होते हैं। शारीरिक, बाह्य।

शारीरिक

पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि जो आसन कहे गये हैं, वे शारीरिक आसन हैं।

बाह्य

सारे उपद्रवों से रहित एकान्त स्थान में कुश, मृग-चर्म, वस्त्रादि रूप जो आसन हैं, वे बाह्य आसन हैं।

प्राणायाम की मीमांसा

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

(योग० २।४९)

बाहर की वायु को जो शरीर के भीतर धारण करना है, उसे श्वास कहते हैं और शरीर के भीतर की वायु को जो बाहर निकालना है, उसे प्रश्वास कहते हैं, श्वास-प्रश्वास की गति का रोकना प्राणायाम कहलाता है।

पूरक, कुम्भक, रेचक ये तीन प्रकार के प्राणायाम होते हैं। पूरक प्राणायाम में श्वास की गति रहती है किन्तु प्रश्वास की गति का विच्छेद रहता है।

रेचक प्राणायाम में प्रश्वास की गति रहती है तो श्वास की गति नहीं रहती है और कुम्भक प्राणायाम में श्वास और प्रश्वास दोनों की गति नहीं रहती है। सारांश यह कि सांस लेना और सांस त्यागना जैसे अन्य समय में होता रहता है, वैसे प्राणायाम के समय सांस लेना और सांस त्यागना यह दोनों नहीं होते हैं।

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्जलेनैकं प्रपूरयेत्।
मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्॥

योगाभ्यासी पुरुष को अपने पेट के दो भागों को अन्न से पूरा करना चाहिये, एक भाग को जल से भर देना चाहिये और चौथे भाग को प्राणवायु के सञ्चार करने के लिये ऐसे ही खाली छोड़ देना चाहिये।

पूरक

बाहर की वायु को वामनासिका के द्वारा जो शरीर के भीतर ले जाना है, उसे पूरक कहते हैं।

कुम्भक

प्राणवायु को अर्थात् सारे शरीर की वायु को रोक रखने को कुम्भक कहते हैं।

रेचक

शरीर के भीतर की वायु को दक्षिण नासिका के द्वारा जो बाहर निकालना है, उसे रेचक कहते हैं। उनमें कुम्भक दो प्रकार के होते हैं—आन्तर कुम्भक, बाह्य कुम्भक।

आन्तर कुम्भक

शरीर के भीतर लायी हुई जो वायु है उसे हृदय प्रदेश में रोक रखना, आन्तर कुम्भक है।

बाह्य कुम्भक

प्रश्वासरूप से बाहर निकाली हुई जो प्राणवायु है उसे शरीर के बाह्य प्रदेशमें रोकना, बाह्य कुम्भक है।

प्राणायाम की मात्रा

सोलह मात्रा से पूरक में वायु को शरीर के भीतर ले जाना चाहिये। बत्तीस मात्रा से रेचक में आन्तर वायु को बाह्य प्रदेश में निकालना और चोंसठ मात्रा से कुम्भक में प्राणवायु को रोकना चाहिये. अर्थात् पूरक से द्विगुण (दुगना) रेचक करना चाहिये और रेचक से दुगुना कुम्भक करना चाहिये। इस प्रकार के प्राणायाम के अभ्यास से प्राणवायु की गति का निरोध होता है और उसके निरोध से वासना का क्षय होता है।

प्रत्याहार की मीमांसा

स्वविषयासंप्रयोगेचित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः
(योग २।५४)

चित्त के निरोध होजाने पर जो सब इन्द्रियों का निरोध है, उसे प्रत्याहार कहते हैं।

जिस प्रकार मधु-मक्खियों का राजा जिधर उड़ जाता है, उधर ही उसके पीछे सारी मधुमक्खियाँ उड़ जाती हैं और उसके बैठने पर सारी मधुमक्खियाँ बैठ जाती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों का राजा मन है, उसके निरोध होने से सब इन्द्रिय निरुद्ध हो जाते हैं और मन के निरोध नहीं होने पर इन्द्रियों के निरोध करने का प्रयास व्यर्थ है।

प्रथम यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार ये जो संप्रज्ञात समाधिके बहिरङ्ग साधन हैं, उनका अभ्यास जिज्ञासु को करना चाहिये, इसके बाद संप्रज्ञात समाधि के जो अन्तरङ्ग साधन धारणा, ध्यान, समाधि ये तीन हैं, उनका अभ्यासकरना चाहिये।

धारणा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

(योग० ३।१)

मूलाधार, मणिपूरक, स्वाधिष्ठान, अनाहत, आज्ञा, विशुद्ध इन षट् चक्रों में से किसी एक चक्र में या किसी बाह्य विषय में जो चित्तकी स्थापना है, उसे धारणा कहते हैं। जैसे पुराणों में कहा है—

प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये॥
मूर्त्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिस्पृहम्।
एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते॥
तत्र मूर्त्तं हरे रूपं यद्विचिन्त्यं नराधिप।

तत् श्रूयतामनाधारा धारणा नोपपद्यते ॥
प्रसन्नवदनं चारु पद्मपत्रनिभेक्षणम् ।
सुकपोलं सुविस्तीर्णं ललाटफलकोज्वलम् ॥
समकर्णान्तविन्यस्तचारुकुण्डलभूषणम् ।
कम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णं श्रीवत्साङ्कितवक्षसम् ॥
प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवापिचतुर्भुजम् ।
समस्थितोरुजंघं च स्वस्तिकांघ्रिकराम्बुजम् ॥
चिन्तयेत् ब्रह्मभूतं तं पीतनिर्मलवाससम् ।
किरीटचारुकेयूरकटकादिविभूषितम् ॥
शार्ङ्गचक्रगदाखड्गशंखाक्ष वलयान्वितम् ।
चिन्तयेत्तन्मयो योगी समाधायात्ममानसम् ॥
तावत् यावत् दृढ़ाभूता तत्रैव नृप धारणा ।
एतदानिष्ठतोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः ॥
नापयाति यदा चित्तं सिद्धां मन्येत तां तदा ।

अर्थात् प्राणायाम के द्वारा शरीर की वायु को वश करके और प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को वश करके चित्त को कल्याणदायक विषयोंमें लगादेना चाहिये अथवा भगवान् के सगुण रूप में चित्त को लगादे, इसी को धारणा कहते हैं। बिना आश्रय के अर्थात् शरीर-रहित वस्तु में धारणा ठीक से नहीं हो सकती है अष्टभुज अथवा चतुर्भुज, शङ्ख, चक्र, गदा आदि अपने उपकरणों से युक्त विष्णु भगवान् का तन्मय होकर और अपने चित्त

को दूसरे विषयोंसे हटाकर योगाभ्यासी चिन्तन करे और तब तक उसीमें चित्त लगाने का अभ्यास करता रहे जब तक यह धारणा दृढ़ न हो जाय। धारणा करते समय अथवा अपनी इच्छा से दूसरे कर्म करते समय यदि चित्त दूसरे विषय में न जाय तब धारणा सिद्ध हो गयी है यह समझना चाहिये।

ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

(योग० ३।२)

जिस वस्तु में चित्त की धारणा की गयी है उसी वस्तु में एकाग्र रूप से चित्त की वृत्ति को रखना, ध्यान है अर्थात् अपने लक्ष्यवस्तु का चिन्तन जब तक करें तब तक उसीमें चित्त लगा रहे, बीच २ में दूसरे विषय का चिन्तन चित्त के द्वारा न हो, धारणा करते २ पीछे ध्यान हो जाता है।

समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

(योग० ३।३)

वही ध्यान जब ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, ध्यान का अपना स्वरूप शून्य की तरह हो जाता है अर्थात् ध्येय से ध्यान का भेद जब नहीं मालूम पड़ता है, केवल ध्येय का ही प्रकाश होता है तब उसीको समाधि कहते हैं।

ध्यान करते २ पीछे समाधि हो जाती है। पुराणों में जैसा कहा है—

तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत् ।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते ॥

ध्यान से ध्येय का जो भेद है वह भेद जब नहीं मालूम पड़े ऐसे ध्यान के स्वरूप का जो प्रकाश है, वह मन के द्वारा ध्यान करने से प्राप्त होता है उसीको समाधि कहते हैं।

खाण्डिक्य नाम के किसी जिज्ञासु के प्रति केशिध्वज ने उक्त अष्टांगयोग का उपदेश करके इस प्रकार उपसंहार किया है। जैसे—

क्षेत्रज्ञः करणी ज्ञानं करणं तदचेतनम् ।
निष्पाद्य मुक्तिकार्यं वै कृतकृत्यो निवर्त्तते ॥

यह जीव ज्ञाता है, ज्ञान साधन है और उसका फल मोक्ष है, उस मोक्ष को ज्ञान के द्वारा जीव प्राप्त करके कृतकृत्य होकर निवृत्त हो जाता है अर्थात् आगे उसे कुछ कर्त्तव्य नहीं रह जाता है, अतः वह साधनों से निवृत्त सुखी होकर बैठ जाता है।

समाधि दो प्रकार की होती है।

कर्त्ता, कर्म, करण ये तीनों मिलकर त्रिपुटी कही जाती है उस त्रिपुटी के ज्ञान-सहित एक समाधि होती है जिसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

अर्थात् संप्रज्ञात समाधिमें समाधि का कर्त्ता मैं हूँ। ध्येय का जो ज्ञान है, जो अन्तःकरण की वृत्ति रूप है वह करण है और जो ध्येय है वह कर्म है, इस प्रकार ज्ञान रहता है।

दूसरी जो असंप्रज्ञात समाधि है उसमें उक्त त्रिपुटी का ज्ञान नहीं रहता है अर्थात् जब असंप्रज्ञात समाधि होती है उस अवस्था में यह नहीं मालूम पड़ता है कि इस समाधि का कर्त्ता कौन है, कर्म कौन है और करण कौन है।

संप्रज्ञात समाधि करते२ पीछे असंप्रज्ञात समाधि हो जाती है इसलिये संप्रज्ञात समाधि साधन है तथा अङ्ग है और असंप्रज्ञात समाधि साध्य (फल) है तथा अंगी है।

संप्रज्ञात समाधि के अन्तरंग साधन जो धारणा, ध्यान, समाधि हैं, वे असंप्रज्ञात समाधि के बहिरंग साधन हैं। संप्रज्ञात समाधि के होने में चार प्रकार के विघ्न होते हैं। जैसे—लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद।

लय

निद्रा को लय कहते हैं।

विक्षेप

भोग के लिये किसी विषय का बार बार स्मरण करना विक्षेप है।

कषाय

राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि से जो चित्त में मलिनता उत्पन्न हो जाती है, उसे कषाय कहते हैं।

रसास्वाद

समाधि के आरम्भ में जो सविकल्प आनन्द का आस्वादन है उसे रसास्वाद कहते हैं।

उपर्युक्त चार प्रकार के समाधि के जो विघ्न हैं उनके निवारण का उपाय श्रीगौड़पादाचार्य ने इस प्रकार कहा है।

लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः ।
सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत् ॥
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसंगः प्रज्ञयाभवेत् ॥

समाधि करने के समय यदि चित्त निद्रारूप लय के संमुख हो, अर्थात् उस समय यदि नींद आवे, तो प्राणायाम के द्वारा चित्त को जागृत रखना चाहिये और समाधि करते समय यदि चित्त में विक्षेप हो तो विषयों में दोष-दर्शन, सत्संग, उपासना आदि उपायों का सेवन करके उस विक्षेप को हटाना चाहिये। जैसे कहा गया है—

विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥

विषयों के चिन्तन करने वाले पुरुष का चित्त विषयों में लीन होता है और परमेश्वर के चिन्तन करने वालों का चित्त परमेश्वर में ही लीन हो जाता है। इसी तरह सत्संग से भी विक्षेप की निवृत्ति होती है—

सन्तः सदैव गन्तव्या यद्यप्युपदिशन्ति न ।
या हि स्वैरकथास्तेषामुपदेशा भवन्ति ताः ॥

(योग वासिष्ठ)

मोक्षाभिलाषी पुरुष को सदैव महात्माओं के पास जाना चाहिये, यद्यपि महात्मा लोग पास जाने से ही ज्ञान का उपदेश

नहीं देते हैं तथापि उनकी स्वाभाविक जो कथा होती है वही मुमुक्षु के प्रति उपदेश हो जाती है।

इस प्रकार चार प्रकार के विघ्नों से निवृत्त होकर समाधि में आरूढ़ हुआ योगी जब मन की एकाग्रता को सिद्ध कर लेता है तब उसकी ऋतम्भरा नाम की प्रज्ञा हो जाती है।

ऋतम्भरा

भूत, भविष्य, दूर, व्यवहित और सूक्ष्म जो विषय हैं, बुद्धि की वृत्ति के द्वारा उन विषयों का भी जब अनुभव होने लगता है तब उस बुद्धि की वृत्ति को ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं।

उस ऋतम्भरा प्रज्ञा का भी निरोध करके संप्रज्ञात समाधिका अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि ऋतम्भरा प्रज्ञा को भी रोककर समाधि करने से पर वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और पर वैराग्य उत्पन्न होने से निर्विकल्प असंप्रज्ञात समाधिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। जैसे कहा है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

(योग० १।१५)

एकाग्रतारूप जो चित्त की स्थिति (अवस्थाविशेष) है, उसे प्राप्त करने के लिये जो उसके साधनों का सेवन करना है, वही अभ्यास है।

शंका—सारी अन्तःकरण की वृत्तियों को निरोध करने के लिये असंप्रज्ञात समाधि का अभ्यास करना कहा गया है और आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार का साक्षात् कारण भी उसे बतलाया गया है, किन्तु असंप्रज्ञात समाधि की अवस्था में जो चित्त-वृत्ति रहती है वह अभ्यास के अनुसार अन्य अर्थात् संप्रज्ञात समाधि के संस्कार को नष्ट कर देती है, जिससे पुनः उधर चित्त का कभी प्रवेश नहीं हो सकता है अर्थात् चित्त विषयों का चिंतन नहीं कर सकता है, क्योंकि विषयों के चिन्तन करने का मूल कारण जो वासनाएँ अन्तःकरण में अनन्तानन्त भरी पड़ी हैं उन्हें असंप्रज्ञात समाधि की वासना इस प्रकार नष्ट कर देती है जैसे अंधकार को प्रकाश विनष्ट कर देता है; किन्तु असंप्रज्ञात समाधि की चित्त-वृत्ति के समय जो वासना उत्पन्न होती है उसका विनाश कैसे हो सकता है!

यदि यह कहा जाय कि असंप्रज्ञात समाधि की उत्तरोत्तर (आगे आगे) की चित्त-वृत्ति समान रूप से जो होती चली जाती है वही पूर्व-पूर्व की वासना को निवृत्त करती चली जाती है, तो अन्तिम जो चित्त-वृत्ति है उसका विनाश और उससे उत्पन्न वासना का विनाश कैसे हो सकता है?

समाधान—जिस प्रकार कतक फल (निर्मली) जल में डालने से जल के मैले को नाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार असंप्रज्ञात समाधि की जो अन्तिम वासना या चित्त-वृत्ति है वह पूर्व की वासना को नष्ट करके अपने आप नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार असंप्रज्ञात समाधि की परिपक्व अवस्था में एक भी वासना, एक भी चित्त-वृत्ति नहीं रहने के कारण आत्मा के वास्तव स्वरूप सत्-चित्-आनन्दरूप का साक्षात्कार हो जाता है। असंप्रज्ञात समाधि का स्वरूप-वर्णन अन्य शास्त्रों में भी किया गया है; जैसे—

मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतयास्थितिः ।
असंप्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते ॥
प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददीपकम् ।
असंप्रज्ञातनामासौ समाधिर्योगिनां प्रियः ॥

सारी वृत्तियों से शून्य ब्रह्माकाररूप जो मन की स्थिति है, उस स्थिति में समस्त विषय नष्ट हो जाते हैं और परमानन्द का प्रकाश होने लगता है, उसे असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। वह योगी लोगों को अत्यन्त प्रिय है।

इस असंप्रज्ञात समाधि का अन्य साधन भी भगवान् पतञ्जलि ने कहा है; जैसे—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।

(योग० १।२७)

शरीर, मन, वचन से ईश्वर की अनन्य भक्ति करने से भी समाधि का लाभ और आत्मा का साक्षात्कार रूप फल होता है।

ईश्वर का स्वरूप

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ।

(योग० १।२८)

क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इन चारों से जिसका त्रिकाल में भी सम्बन्ध न हो, ऐसा चेतनस्वरूप जो पुरुष है, उसे ईश्वर कहते हैं। क्लेश पांच प्रकार के होते हैं।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।

(योग २।३)

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पांच प्रकार के क्लेश होते हैं।

अविद्या

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

(योग० २।५)

अनित्य वस्तु को नित्य वस्तु समझना, अपवित्र को पवित्र समझना, दुःखको सुख समझना, अनात्मा को आत्मा समझना, इसीको अविद्या कहते हैं।

जैसे अमित्र शब्द का 'मित्र का अभाव' यह अर्थ नहीं होता है किन्तु उसके विरोधी शत्रु समझा जाता है; वैसे ही यहां अविद्या शब्द का अर्थ विद्या का अभाव नहीं है किन्तु उसके विपरीत यह दूसरा ज्ञान है। यह अविद्या विद्या की तरह प्रमाण नहीं है और प्रमाण का अभाव भी नहीं है किन्तु ज्ञानान्तर अर्थात् दूसरा ज्ञान है।

अस्मिता

दृक्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।

(योग० २।६)

दृक् शक्ति (पुरुष) और दर्शन शक्ति (बुद्धि) इन दोनों को अलग २ न समझ कर एक स्वरूप की तरह समझना अस्मिता है, इसमें सूक्ष्म अहंकार रहता है।

राग

सुखानुशयी रागः ।

(योग० २।७)

सुख में अथवा सुख के साधन में जो तृष्णा है, उसे राग कहते हैं।

द्वेष

दुःखानुशयी द्वेषः ।

(योग० २।८)

दुःख में और उसके साधन में जो क्रोध है अर्थात् उसके त्याग देने की जो इच्छा है, उसे द्वेष कहते हैं।

अभिनिवेश

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढ़ोऽभिनिवेशः ।

(योग० २।९)

सब प्राणीको मरने का जो भय है, उसे अभिनिवेश कहते हैं। मरने का भय जिसप्रकार अज्ञानी पुरुषको होता है; वैसे ही विद्वान् को भी होता है अर्थात् कोई भी मृत्यु नहीं चाहता है, यह जो मृत्यु का भय है वही अभिनिवेश है।

उक्त प्रकार के जो पांच क्लेश होते हैं उन पांचों क्लेशों से ईश्वर मुक्त है अर्थात् एक भी क्लेश ईश्वरमें नहीं है।

कर्म

कर्म तीन प्रकार के होते हैं। शुक्ल, कृष्ण, मिश्र।

शुक्ल कर्म

पुण्य कर्म को शुक्ल कर्म कहते हैं।

कृष्ण कर्म

पाप कर्म को कृष्ण कर्म कहते हैं।

मिश्र

पुण्य-पाप इन दोनों के संमेलन को मिश्र कर्म कहते हैं। उक्त तीनों कर्मों से भी ईश्वर मुक्त हैं।

विपाक (कर्म—फल)

कर्म के फल को विपाक कहते हैं। विपाक भी तीन प्रकार के होते हैं। जाति, आयु, भोग

जाति (जन्म)

कर्म का फल जाति (जन्म) है अर्थात् उक्त तीनों कर्मों में से किसी प्रकार के कर्म करने से ही जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

कर्म एकभविक और त्रिविपाक

यहां यह प्रश्न उठता है कि एक कर्म से एक ही जन्म मिलता है अर्थात् एक जन्म एक कर्म का फल है या अनेकानेक जन्म एक कर्म के फल हैं, सारांश यह कि एक कर्म का

फलस्वरूप एक ही वार जन्म ग्रहण करना पड़ता है अथवा यह कि एक कर्मका फलस्वरूप बहुत वार जन्म ग्रहण करना पड़ता है !

अथवा अनेक कर्मों से अनेक जन्म मिलते हैं अर्थात् बहुत कर्मों के फल स्वरूप बहुत वार जन्म ग्रहण करना पड़ता है, या अनेक कर्मों से एक ही जन्म मिलता है अर्थात् अनेक कर्मों का फल स्वरूप एक ही वार जन्म ग्रहण करना पड़ता है !

समाधान—एक कर्म का फल एक वार जन्म लेना नहीं हो सकता है, क्योंकि जीव के अनादि काल से जन्म चले आते हैं इसलिये असंख्य जन्म तो भूतकाल के हैं और यह वर्त्तमान जन्म भी है, इन सारे जन्मों में से एक २ जन्म में अनेकानेक कर्म जीवके द्वारा किये जाते हैं। वर्त्तमान जन्म में भी अनेकानेक कर्म किये जा रहे हैं।

यदि एक कर्म करने से एक वार जन्म लेना पड़े तो एक जन्म के अनेकानेक कर्मों में से एक ही कर्म का फल मिल सकता है और सब कर्म बिना फल दिये हुए ही रह जाते हैं अर्थात् कर्म का आधिक्य बहुत ज्यादा हो जाता है और इस नियम से जन्म थोड़े हो जाते हैं।

इस प्रकार एक २ जन्म के अनेकानेक कर्म निष्फल हो रह जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक जन्म में अनेकानेक कर्म होते रहेंगे और उन कर्मों में से एक ही कर्म से एक जन्म होता रहेगा, पुनः उस जन्म में भी अनेक कर्म उत्पन्न होंगे उनमें से भी एक के सिवा और सब व्यर्थ रह जाते हैं।

इसका भी निर्णय नहीं हो सकता है कि जन्म लेना उन कर्मों में से किस कर्म का फल है और ऐसा निश्चय नहीं रहने से पुण्य कार्य में किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि पुण्य का फल कब होगा इसका पता नहीं, या जन्मान्तर के पाप कर्मों से ही उसका विनाश हो जाय।

इस प्रबल असमञ्जस के कारण एक कर्म का फलस्वरूप एक बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है यह सर्वथा असंगत है और यह भी असंगत है कि एक ही कर्म का फलस्वरूप अनेक बार जन्म धारण करना पड़ता है, क्योंकि ऐसा होने से एक जन्म में उत्पन्न हुए अनेक कर्मों में से एक ही कर्म का फलस्वरूप जब अनेक बार जन्म धारण करना पड़ेगा, तब प्रत्येक जन्म में अनेकानेक कर्म बिना फल दिये ही अवशिष्ट रह जायंगे, क्योंकि उन कर्मों को फल-प्रदान करने का अवसर ही नहीं मिलेगा, अतः उक्त पक्ष भी इष्ट नहीं।

यदि यह कहा जाय कि अनेक कर्मों का फलस्वरूप अनेक बार जन्म धारण करना पड़ता है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि अनेक जन्म एक बार तो हो नहीं सकते, क्रम से ही होंगे, फिर प्रत्येक जन्ममें अनेकानेक कर्म उत्पन्न होते रहेंगे इस प्रकार और भी ज्यादा कर्म निष्फल रह जाते हैं अतएव यह निश्चित होता है कि जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त जितने विहित और निषिद्ध कर्म किये जाते हैं उन कर्मों से उच्चावचरूप से पुण्य-पाप का पुञ्ज उत्पन्न होता है। वह मरण-काल में प्रारब्ध कर्म के भोग

समाप्त हो जाने से अपना अवसर पाकर अपने फल-प्रदान करने के लिये मृत्युका सम्पादन करके महावेगशाली होकर अपने फल-प्रदान करने के अनुकूल एक ही जन्म का कारण होता है, अनेक जन्मों का नहीं।

केवल जन्म से कुछ नहीं हो सकता है अतः जन्म के साथ उसी पुण्य-पाप पुञ्ज के द्वारा आयु (उमर) का भी निर्धारण होता है और उसी कर्म के द्वारा उस आयु में भोग का भी निर्धारण रहता है, इस प्रकार पुण्य-पाप पुञ्जरूप कर्मांशय जन्म, आयु, भोग के कारण होने से त्रिविपाक कहलाता है अर्थात् कर्मांशय का उक्त तीन रूपों से परिपाक होता है।

इस प्रकार एक कर्म एक जन्मका कारण नहीं होता है और एक कर्म अनेक जन्मों का भी कारण नहीं हो सकता है तथा अनेक कर्म अनेक जन्मों का भी कारण नहीं है किन्तु जन्म से लेकर मरणकाल तक के किये हुए सारे कर्म गौण-प्रधानरूप से सम्मिलित होकर एक जन्म का कारण होते हैं इसीलिये एकभविक कर्मांशय कहलाता है। उस धर्म-अधर्म रूप कर्मांशय से भी ईश्वर रहित है।

इस प्रकार क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इन चारों से ईश्वर मुक्त है, सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् है। क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इन चारों से जीव सम्बद्ध (युक्त) हैं और अल्पज्ञ, अल्प-शक्तिमान् हैं।

ईश्वर का प्रणिधान

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग० १।२८)

ईश्वर का बोधक प्रणव (ओम्) शब्द है। उस ॐकाररूप प्रणव का एकाग्र चित्त से जो जप करना है और माण्डूक्य उपनिषद् में बतलाये गये मार्ग से उस प्रणव का जो चिन्तन अर्थात् प्रणव शब्द के अर्थ का मनन करना है, उसे ईश्वर-प्रणिधान कहते हैं।

प्रणव का स्वरूप

तद्योऽहं योऽसौ योऽसौ सोऽहम्।

इस श्रुति में 'स' शब्द से परमात्मा का बोध होता है और 'अहम्' शब्द से जीवात्मा का बोध होता है।

'स' और 'अहम्' इन दोनों शब्दों का सामानाधिकरण्य (अभेद) है अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा का अभेद (एक रूपता) उक्त श्रुति से प्रतीत होती है, इसलिये 'सोऽहं' इसका 'परमात्मा मैं हूं' यह अर्थ होता है।

'सोऽहम्' शब्द का जो अर्थ होता है, वही 'ओम्' शब्द का भी अर्थ है, क्योंकि 'सोऽहम्' शब्द का सकार और हकार का लोप (विनाश) करके पूर्वरूप सन्धि कर देने से 'सोऽहम्' का ही रूपान्तर 'ओम्' हो जाता है; जैसे कहा है—

सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत्।
सन्धिं च पूर्वरूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवो भवेत्॥

'सोऽहम्' के सकार और हकारको हटाकर और पूर्वरूप नाम की व्याकरण की सन्धि कर देने से और 'ह' का जो अवशिष्ट

अकार है उसका भी लोप करके 'सोऽहम्' का रूपान्तर 'ओम्' शब्द होता है, इस प्रकार मीमांसा करने से 'ओंकार' शब्द का भी "मैं परमात्मा हूं" यही अर्थ सिद्ध होता है जो 'सोऽहम्' शब्द का अर्थ है।

सारांश यह कि ओंकार रूप प्रणव का अर्थ जीव-ब्रह्म इन दोनों की एकता है, उस जीव-ब्रह्म की एकता का जो चिन्तन करना है, उसे ईश्वर-प्रणिधान कहते हैं।

ईश्वर-प्रणिधान से जिज्ञासु के ऊपर ईश्वर का अनुग्रह होता है, उस अनुग्रह (दया) से जिज्ञासु पुरुष को असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति अवश्य हो जाती है, इसलिये पर वैराग्य की तरह ईश्वर-प्रणिधान भी असंप्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग अंग है।

योग की भूमिका

यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेत् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेच्छान्त आत्मनि॥

लौकिक और वैदिक शब्दों के उच्चारण का हेतु जो वाणी है, उसका मन में लय करदे अर्थात् वाक् इन्द्रिय के सारे व्यापारों का परित्याग करके मौन रूप से समाधि की उत्पत्ति-पर्यन्त केवल प्रणव का जप करे और उसके अर्थ का चिन्तन करे। इस प्रकार मौन रहकर केवल प्रणव का जप और उसके अर्थ के चिन्तन को योग शास्त्र में प्रथम भूमिका कहते हैं।

प्रथम भूमिका में सफलता हो जाने पर मन का निरोध स्वरूप दूसरी भूमिका का प्रयत्न करे अर्थात् संकल्प-विकल्परूप मन का भी अहंकार में लय करे, सारांश यह कि मन की सारी क्रियाओं का धीरे २ परित्याग करदे उस समय केवल एक प्रकार का विशेष अहंकार रहता है अर्थात् "मैं मनुष्य हूं" इतना ही ज्ञान रहता है। अन्य प्रकार की चित्त की वृत्ति नहीं होती है इसी को दूसरी भूमिका कहते हैं।

इस भूमिका में सफलता होने के बाद तीसरी भूमिका का अभ्यास करे, अर्थात् "मैं मनुष्य हूं" इस प्रकार जो मन में विशेष अहंकार है, उसका महत् तत्त्वरूप बुद्धि में लय करदे अर्थात् उस विशेष अहंकार का भी परित्याग करके केवल 'अहम्' 'अहम्' इस रूप का सामान्य अहंकार का ही चित्त में धारण करे, इसी सामान्य अहंकार की जो सूक्ष्म अवस्था है उसे ही अस्मिता कहते हैं।

इस प्रकार जब तीसरी भूमिका में अभ्यास करते २ सफलता प्राप्त हो जाय, तब अभ्यासी पुरुष चतुर्थ भूमिका के लिये प्रयत्न करे, अर्थात् उस सूक्ष्म अहंकार का भी सच्चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा में लय करदे।

सारांश यह कि अहंभाव को छोड़कर केवल सत्-चित् आनन्दरूप आत्मा में ही प्रवाह रूप से चित्त की वृत्ति रहे यही असंप्रज्ञात समाधि है।

इन चारों भूमिकाओं में सफलता प्राप्त हो जाने पर सारी उपाधि से रहित अनन्त, आनन्द, चैतन्य, स्वप्रकाशस्वरूप

आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। इसलिये समाधि का जो अभ्यास है वह ब्रह्म साक्षात्कार का कारण है। अतः ब्रह्म साक्षात्कार-पर्यन्त उसका अभ्यास करना आवश्यक है,

एतेन योगः प्रत्युक्तः ।

(वेदान्त० २।१।३)

शंका—इस सूत्रके द्वारा सांख्य मत की तरह योग के सिद्धान्त का भी भगवान् वेदव्यासजी ने खण्डन किया है अर्थात् योग के सिद्धान्त को, उसमें बतलाये रास्ते को, अनुपयुक्त कहकर उसे ब्रह्म-साक्षात्कार का साधन नहीं माना है। व्यास भगवान् के उक्त सूत्र से निन्दित होने के कारण योगाभ्यास की तरफ लोगों की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—सांख्य मत में जिस प्रकार अचेतन (जड़) प्रकृति को जगत् का कारण माना है, ठीक उसी प्रकार योग मत में भी जड़ प्रकृति को ही इस संसार का जो कारण कहा गया है, वह श्रुति-स्मृति के तात्पर्य से विरुद्ध होने के कारण सर्वथा निर्मूल है।

इसी अभिप्राय से त्रिकालज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ व्यास भगवान् ने अपने ग्रन्थ में योग-शास्त्र के अचेतन प्रधान (प्रकृति) कारणवाद को निर्मूल, युक्ति-विरुद्ध साबित करके उसका खण्डन कर दिया है और चित्त का निरोध आदि जो योग की प्रक्रिया है, उसको तो भगवान् ने भी साधन ही माना है।

व्यास भगवान् का जो सर्व-मान्य सिद्धान्त है जिसे वेदान्त-सिद्धान्त कहते हैं, उसमें भी चित्त के विक्षेप को हटाकर चित्तको निरुद्ध रखना, ब्रह्म साक्षात्कार के लिये अत्यन्त उपयोगी कहा गया है।

चित्त के विक्षेप को हटाने के तथा चित्त को विषयों से निरुद्ध (रोक) कर अपने वश में रखने के लिये योग शास्त्र में, यम-नियम आदि अष्टांग-साधन सहित योग का जो उपदेश किया गया है वह अत्यन्त उपयोगी है इसलिये उसमें किसी विद्वान् का विरोध नहीं हो सकता है।

शंका—योग शास्त्र में बतलाये गये जो अष्टांग योग हैं, वे यदि आत्म-साक्षात्कार के हेतु माने जायँ, तो जिन्हें वे साधन प्राप्त नहीं हैं उनको आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता है, जनक आदि को योग के अष्टांग साधन नहीं रहने पर भी केवल सिद्ध गीतादि के श्रवण से ब्रह्म-साक्षात्कार हुआ है ऐसा जो योग-वासिष्ठ में कहा गया है वह असंगत हो जाता है ?

समाधान—केवल अष्टांग योग से ही ब्रह्म-साक्षात्कार होता है, यह नियम नहीं है किन्तु जो ब्रह्म-साक्षात्कारके साक्षात् साधन हैं उन विवेक आदि साधनों के द्वारा ही ब्रह्म-साक्षात्कार होता है, वे विवेक आदि साधन जनक आदि को प्राप्त थे।

यहां यह रहस्य है कि ब्रह्म-साक्षात्कार के जिज्ञासु दो प्रकार के होते हैं एक तो बहुव्याकुल चित्त वाला, दूसरा अव्याकुल चित्त वाला। उनमें पहले जिज्ञासुको तो यम, नियम आदि साधन करनेके

पश्चात् 'तत्त्वमसि' आदि महा वाक्योंके शोधन करने से ब्रह्म-साक्षात्कार होता है।

दूसरा जो अव्याकुल चित्त वाला (विक्षेप-रहित) जिज्ञासु है। उसे यम, नियम आदि अष्टांग योगके बिना ही केवल वेदान्त शास्त्रोंके भली भांति श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने से अथवा भली भांति विचारसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार होजाता है, उस जिज्ञासु को योगाभ्यास करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

सारांश यह कि चित्त के जो विक्षेप दोष हैं, उनके दूर होने से ही ज्ञान-प्राप्ति द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार हो सकता है, इस अभि-प्राय से ही जिज्ञासु अष्टांग योगका सेवन करते हैं, जिससे चित्त के विक्षेप दोष दूर हों और वे विक्षेप दोष भगवद्भक्ति से तथा वेदान्त शास्त्रोंके विचार करनेसे और साधन-चतुष्टय प्राप्त करनेसे भी दूर होते हैं।

जिसे जो साधन सुगम जँचे उसका ही सेवन उसे करना चाहिये। किसी प्रकार चित्तके विक्षेप दोषको हटा देना चाहिये।

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिःस्याच्छनैस्ततः।
यः समाधिर्निरोधाख्यःसोऽनायासेन लभ्यते॥१२६
निरोधलाभेपुंसोऽन्तरसंगं वस्तु शिष्यते।
पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन्वाक्याजायेत तत्त्वधीः॥१२७
निर्विकारासंगनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः।
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहन्त्यविवादतः॥१२८

योगाभ्यासस्त्वेतदर्थोऽमृतबिन्द्वादिषु श्रुतः ।
एवं च दृष्टद्वारापि हेतुत्वादन्यतोवरम् ॥१२६
उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम् ।
पिंडं समुत्सृज्य करंलेढीतिन्याय आपतेत् ॥१३०
उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि ।
बाढं तस्माद्विचारस्यासंभवे योग ईरितः ॥१३१
बहुव्याकुलचित्तानांविचारात्तत्त्वधीर्न हि ।
योगमुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥१३२
अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम् ।
सांख्यनामा विचारःस्यान्मुख्योझटिति सिद्धिदः॥१३३
(पञ्चदशी, ध्यानदीप)

निर्गुण उपासना परिपक्व होने से समाधि होती है तब धीरे २ उसकी चरम अवस्था में निरोध नाम की समाधि होजाती है। निरोध समाधि होने पर मनुष्य के अन्तर्गत एक मात्र अद्वैत ब्रह्म अवशिष्ट रह जाता है, फिर बारबार उस अद्वैत ब्रह्म की भावना करते पर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से तत्त्वज्ञान हो जाता है। तत्त्वज्ञान होने पर विकार-रहित, असंग, नित्य, स्वप्रकाश, एक, परिपूर्ण आदि शास्त्र-कथित जो आत्मा के स्वरूप हैं, उनका दृढ़ निश्चय हो जाता है। योगाभ्यास का फल ज्ञान है यह अमृतबिंदु आदि में कहा गया है। निर्विकल्पक समाधि के लाभ से और तत्त्वज्ञान के समीप होने से निर्गुण उपासना सगुण उपासना से श्रेष्ठ है।

जो मनुष्य निर्गुण उपासना को छोड़कर तीर्थ-यात्रा, जप आदि को ही करके कृतकृत्य रहता है। "खाद्य पिंड को छोड़कर अपने हाथको चाटना" इसी नीति का वह अनुसरण करता है।

तत्त्व-ज्ञान के साक्षात्साधन जो आत्म-तत्त्व का विचार है उसका त्यागकर निर्गुण उपासना करने वालों के लिये भी यद्यपि पूर्वोक्त नीति समान ही है, तथापि आत्म-तत्त्व के विचार करने की योग्यता नहीं रहने पर यह निर्गुण उपासना का विधान कहा गया है, क्योंकि जिनका चित्त विक्षेप दोष के रहने से अनेक प्रकार से व्याकुल रहता है, उन्हें आत्म-तत्त्व के विचार करने से तत्त्व ज्ञान नहीं होता है, उन्हीं के लिये निर्गुण उपासना का मुख्य रूप से विधान किया गया है। इससे बुद्धि का अभिमान नष्ट हो जाता है, जिससे बुद्धि निश्चल हो जाती है।

विक्षेप दोष नहीं रहने के कारण जिनका चित्त व्याकुल नहीं रहता है, केवल आवरण दोष रहने के कारण तत्त्व-ज्ञान नहीं होता है उनके लिये मुख्यरूप से तत्त्व-ज्ञान का विचार कहा गया है, क्योंकि उनके लिये यही मार्ग शीघ्र फल प्रद होता है। अर्थात् व्याकुल चित्त वालों के लिये मुख्यरूप से निर्गुण उपासना और अव्याकुल चित्त वालों के लिये मुख्यरूप से तत्त्व-विचार है।

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति ।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥ ३ ॥

अविचारकृतोबन्धो विचारेण निवर्त्तते ।
तस्माज्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ॥ ५ ॥
(पञ्चदशी नाटकदीप)

अनेक जन्मों में ईश्वर के भजन आदि सत्कर्म करने से आत्म-तत्त्व के विचार करने की इच्छा होती है, आत्म-तत्त्व के विचार करने से माया विनष्ट होजाती है, तब स्वयं आत्म-तत्त्व का प्रकाश हो जाता है।

अविचार (अज्ञान) से ही बंधन होता है, वह आत्म-तत्त्व के विचार करने से विनष्ट हो जाता है, इसलिये जीव और परमात्मा के स्वरूप का सदैव विचार करना चाहिये।

जब चित्त का विक्षेप दोष दूर हो जाता है, चित्त एकाग्र होकर वेदान्त वाक्यों के श्रवण-मनन आदि में ही निरन्तर लगा रहता है, तब वेदान्त वाक्यों के भली-भांति श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने से ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है और जिस जिज्ञासु का विक्षेप दोष पूर्व जन्म में नष्ट हो चुका है, इस जन्म में विक्षेप नहीं है, अनायास ही चित्त एकाग्र रहता है, उसे बिना उक्त साधन के केवल 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके शोधनरूप विचारसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है।

इस प्रकार चित्तकी व्याकुलता (चंचलता) और अव्याकुलता (निश्चलता) के कारण भिन्न २ अधिकारी के उद्देश से अष्टांग योग, भगवद्भक्ति, वेदान्त विचार, महावाक्य शोधन

आदि भिन्न २ साधन कहे गये हैं, इसलिये सब साधन सार्थक हैं, कोई भी निरर्थक नहीं है। जैसे भगवान् वसिष्ठ ने कहा है—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
योगस्तद्वृत्तिरोधोहि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमेश्वरः ॥

(योग वासिष्ठ)

हे रामचन्द्र! ब्रह्म-साक्षात्कार के लिये चित्त का विनाश करना अनिवार्य है, उस चित्त-विनाश के लिये श्रुति, स्मृतियों में दो ही क्रम (मार्ग) बतलाये गये हैं एक योग दूसरा ज्ञान।

उन दोनों में से किसी जिज्ञासु के लिये योग असाध्य होता है और ज्ञान ही साध्य होता है, अर्थात् कोई जिज्ञासु ज्ञान साधन में ही प्रवृत्त होकर उसे प्राप्त कर लेता है और योग साधन में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है और उसे वह प्राप्त नहीं करता है।

किसी जिज्ञासु को योग साधन ही सुगम मालूम पड़ता है, ज्ञान ही उसे कठिन जँचता है, इसलिये वह ज्ञान की तरफ प्रवृत्त न होकर योग की ओर ही प्रवृत्त हो जाता है और उसे वह प्राप्त कर लेता है।

योग

चित्त की सारी वृत्ति (प्रवृत्ति) को रोककर केवल अपने लक्ष्य में लगा रखना, योग कहलाता है। जैसे कहा गया है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

(योग० १।२)

चित्त-वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं, अर्थात् प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति ये जो पांच प्रकार की वृत्ति योग शास्त्र में कही गयी है, उन पांचों वृत्तियों मेंसे एक भी वृत्ति जब नहीं रहती है, ऐसी जो चित्त की अवस्था है, उस अवस्था को योग कहते हैं।

ज्ञान (विचार)

अन्नमय आदि जो पंचकोश शास्त्र में कहे गये हैं, उनसे पृथक् जो प्रत्यक्-आत्मा (जीव) है, उसको ब्रह्मरूप करके जानना ज्ञान है।

श्रौत्या विचारदृष्ट्यायं साक्ष्येवात्मा नचेतरः।
कोशान्पञ्च विविच्यान्तर्वस्तुदृष्टिर्विचारणा ॥ ५७ ॥
(पञ्च० ब्रह्मानन्दे आत्मानन्द)

उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात्तत्त्वदर्शिनः।
पंचकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृत्तिं पराम् ॥ ३२ ॥
(पञ्चदशी, तत्त्व विवेक)

श्रुतियों की विचार-दृष्टि से साक्षी ही आत्मा है, साक्षी से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। अन्नमय आदि पंचकोशों को आत्मा से पृथक् जानकर आत्मा का जो वास्तव ज्ञान करना है, उसको विचार कहते हैं।

तत्त्वदर्शी आचार्य से आत्म-तत्त्व का उपदेश प्राप्त करके अन्नमय आदि पंचकोशों से भिन्न आत्मा को जानकर मनुष्य मोक्षरूप परम शांति को प्राप्त करते हैं।

योग और ज्ञान के दो मार्ग भगवान् ने भी गीता के तृतीय अध्याय में अधिकारी के भेद से कहे हैं। जैसे—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

उक्त श्लोक में ज्ञानयोग से ज्ञानका मतलब है और कर्मयोग से योग का मतलब है। योग और ज्ञान दो मार्ग के भेद से ही योगी और ज्ञानी का भेद कहा जाता है। किन्तु गीता के पांचवें अध्याय में—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

इत्यादि वचनों से योग और ज्ञान दोनों को एक ही फल का साधन कहा गया है, अर्थात् जिस लक्ष्य को हम ज्ञान से प्राप्त कर सकते हैं, उसी लक्ष्यको परम्परासे योगके द्वारा भी हम प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा कहा गया है। सारांश यह कि दोनों का ब्रह्म-साक्षात्काररूप एक ही फल है।

उक्त अष्टांग योग की पद्धति से या अन्य उपाय से चित्त के विक्षेप दोष हटने के पश्चात् चित्त के आवरण दोष को हटाना आवश्यक है, अतः आवरण दोष के स्वरूप तथा उसके हटाने के उपाय की मीमांसा अब करेंगे।

* प्रथम रत्न समाप्त *

आवरण दोष

आत्मा का जो वास्तव स्वरूप है, जो सत् रूप है अर्थात् किसी काल में जिसका नाश नहीं होता है, सर्वदा एक रूप से स्थायी है और चैतन्य स्वरूप है अर्थात् जड़ पदार्थ नहीं है। जड़ पदार्थसे किसी प्रकार लेश मात्र से भी संबंध नहीं है, स्वप्रकाश रूप है और आनन्द रूप है इस प्रकार के आत्म-स्वरूपका भान जिस दोष के कारण नहीं होता है उसे आवरण दोष कहते हैं।

चित्त में उस आवरण दोष के रहने के कारण ही मैं कौन हूं? ईश्वर कौन है? संसार क्या वस्तु है! इसका निश्चय मनुष्य को नहीं होने पाता। सत्, चित, आनन्दस्वरूप आत्मा, जिसका शास्त्रों में कथन है, है या नहीं! यदि है तो उस स्वरूप से मालूम क्यों नहीं पड़ता है, क्योंकि संसार में जो वस्तु है वह मालूम पड़ती है इत्यादि विकल्प जो जिज्ञासु के मन में उठते रहते हैं, उनका हेतु आवरण दोष ही है।

आवरण शब्द का अर्थ ढक देना होता है। जैसे किसी मणि को किसी बरतन से ढक देने के कारण भीतर के मणि का प्रकाश नहीं होने पाता, उसी प्रकार सत्-चित्-आनन्दस्वरूप आत्मा को अज्ञान ने ढक रखा है। उस अज्ञान से

आच्छादित हो जाने के कारण चैतन्य स्वरूप होते हुए भी आत्मा का चैतन्य तिरोहित रहता है।

जब उसका चैतन्य ही ढक जाता है, तब उसके आनन्दमय स्वरूप तथा सत् स्वरूप का नहीं मालूम पड़ना सर्वथा युक्ति-पूर्ण है, इसलिये उस अज्ञान का निःशेप रूप से विनाश करना अत्यन्त आवश्यक है और उस अज्ञान का विनाश ब्रह्म-विद्या से ही हो सकता है, अन्य किसी भी उपाय से उसका विनाश नहीं हो सकता है। जैसा श्रुतियों में कहा गया है—

'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

अर्थात् ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है, मोक्ष के लिये दूसरा रास्ता नहीं है। ज्ञान से अज्ञान का विनाश होता है। जैसे—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥
(गीता० ५।१५,१६)

व्यापक परमात्मा न तो किसी के पापको और न किसी के पुण्य को ही लेता है, किन्तु अज्ञान से अपने स्वरूप का आवरण रहना है, जिससे जीव मोहित रहते हैं। जिनका अपने स्वरूप का उक्त अज्ञान अपने स्वरूप के ज्ञान से विनष्ट हो जाता है, उनका ज्ञान सूर्य के सदृश अपने स्वरूपको यथार्थ रूप से प्रकाशित करता है। इस प्रकार श्रुति, स्मृतियों में अज्ञान का

विनाश आत्मा के ज्ञान से ही कहा गया है, ज्ञान के सिवाय दूसरा कोई भी उपाय नहीं है, जो अज्ञान को दूर कर सके।

जैसे मन्द अन्धकारमें सर्पकी तरह जो रस्सी पड़ी रहती है, अन्धकार के कारण भ्रान्त पुरुष उसे रस्सी न समझकर सर्प समझता है। इस भ्रम-जन्य सर्प को हटाने के कोई मन्त्र या औषधि आदि उपाय नहीं हो सकते हैं, किन्तु दीपक और सूर्य आदि के प्रकाश से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है। जैसे कहा है—

भ्रान्त्या प्रतीतसंसारो विवेकान्न तु कर्मभिः।
न रज्ज्वारोपितः सर्पो घण्टाघोषान्निवर्त्तते ॥

भ्रान्ति से रज्जु (रस्सी) में दीखता हुआ जो सर्प है, अर्थात् जो रज्जु है, उसे भ्रमसे जो सर्प समझते हैं, वह मिथ्या है। वह कल्पित सर्प रज्जु के ज्ञान होने से ही निवृत्त होता है, घण्टा की आवाजसे या मन्त्र आदिसे वह कल्पित सर्प निवृत्त नहीं हो सकता है। उसी प्रकार अपना जो असल स्वरूप है, उसके अज्ञानसे ही यह सारा संसार मालूम पड़ रहा है, इसलिये इस कल्पित संसाररूप बन्धन की निवृत्ति अपने असल स्वरूप के ज्ञान से ही हो सकती है, अन्य किसी प्रकार के कर्म-अनुष्ठान आदि से नहीं हो सकती है।

इस जाज्वल्यमान सिद्धान्त का विचार करते हुए जिज्ञासु को आत्म-ज्ञान (अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान) प्राप्त करना चाहिये। किन्तु आत्म-ज्ञान उसे ही प्राप्त होता है, जिसके

अन्तःकरण के मल-विक्षेप दोष दूर हो चुके हैं और जो साधन चतुष्टय-सम्पन्न है, केवल अपने स्वरूप को यथार्थ रूप से नहीं जानता है, ऐसे ही पुरुष को आत्म-ज्ञान का अधिकार है।

उसी अधिकारी को वेदान्त शास्त्र के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से अपने स्वरूप का वास्तव ज्ञान हो जाता है, अतः प्रथम अधिकारी का लक्षण प्राप्त करना अनिवार्य है।

अधिकारी का लक्षण

मल-विक्षेप दोष को निवृत्त कर साधन चतुष्टय-सम्पन्न होना अधिकारी का लक्षण है। यहां यह रहस्य है कि जिस पुरुष के अन्तःकरण में मल दोष (पाप में प्रवृत्ति या पाप करने की इच्छा) हो, उस पुरुष को निष्कामभाव से वर्णाश्रमानुकूल नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये जिससे अन्तःकरण के मल दोष निवृत्त हों।

जिस पुरुष के अन्तःकरण में विक्षेप दोष (चंचलता रूप दोष) हो, वह पुरुष भगवद्भक्ति, सगुण-उपासना, निर्गुण उपासना अथवा प्रणव-उपासना या अष्टाङ्ग योग-सेवन इन साधनों में से किसी प्रकार के साधन का अनुष्ठान करके चित्तकी चंचलता को दूर करें।

इस प्रकार मलदोष और विक्षेप दोष को निवृत्त करने और साधन चतुष्टय-सम्पन्न हो जाने से मनुष्य ब्रह्म विद्या का अधिकारी होता है।

साधन-चतुष्टय

विवेक, वैराग्य, षट्संपत्ति, मुमुक्षुता इन चारों को साधन-चतुष्टय कहते हैं।

विवेक

आत्मा अविनाशी, अचल, व्यापक है और आत्मा से भिन्न सारा संसार विनाशी, चल और परिच्छिन्न है, इस तरह के ज्ञान को विवेक कहते हैं।

नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावत्-
ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखि-
लमनित्यमिति विवेचनम् ॥

(वेदान्त सार)

नित्य और अनित्य वस्तु का जो विवेचन है, उसे विवेक कहते हैं, जैसे ब्रह्म ही नित्य वस्तु है और उससे भिन्न सारा संसार अनित्य है, इस तरह का जो विवेचन करना है उसे विवेक कहते हैं।

शंका—आत्मा अविनाशी, अचल और व्यापक है और उससे भिन्न सब अनित्य हैं, इस प्रकार का ज्ञान जिस पुरुष को हो चुका है, उक्त प्रकार के विवेक हो जाने के पश्चात् उसका कुछ कर्त्तव्य नहीं रह जाता है, क्योंकि वेदान्त शास्त्र के श्रवण-मनन आदि से भी आत्मा नित्य वस्तु है और सब अनित्य है ऐसा ही ज्ञान होता है। यदि वह ज्ञान पहले ही प्राप्त हो, तब तो कुछ भी प्रयोजन अवशिष्ट नहीं रह जाता है, तब

वेदान्त शास्त्र में प्रवृत्ति क्यों हो, इसलिये वेदान्त शास्त्र के अधिकारी के लक्षण में साधन-चतुष्टय के प्रथम साधन का रहना तर्क-शून्य है !

समाधान—यद्यपि आत्मा सत्य तथा नित्य है और जगत् मिथ्या तथा अनित्य है, ऐसा विवेकरूप ज्ञान अधिकारी को रहता है, किन्तु वह ज्ञान निश्चयात्मक नहीं रहता है, सन्देह और भ्रमसे युक्त रहता है। उसे निश्चयात्मक करनेके लिये और सन्देह-विपर्यय को हटाने के लिये उसकी वेदान्त शास्त्र में प्रवृत्ति हो सकती है। 'संसार मिथ्या है और आत्मा नित्य है' इस प्रकार के सामान्य ज्ञान रहने पर भी निश्चयात्मक रूप से युक्तियों और प्रमाणों के द्वारा 'ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है, और मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार निश्चय करने के लिये वेदान्त शास्त्र में प्रवृत्ति होती है।

सारांश यह कि सामान्य रूप से विवेक रहने पर भी अधिकारी को विशेष रूपसे विवेक नहीं रहता है अतः विशेष रूप से विवेक प्राप्त करने के लिये वेदान्त शास्त्र में प्रवृत्ति हो सकती है। इस प्रकार अधिकारी के लक्षण में से प्रथम लक्षण विवेक का सामान्य रूप से रहना तर्क-पूर्ण है।

वैराग्य

इस लोक के और परलोक के-यहां तक कि ब्रह्मलोक तक के जो विषय भोग हैं, उनके त्याग देनेकी जो प्रबल इच्छा है, उसे वैराग्य कहते हैं। जैसे—

इहामुत्र फलभोगविरागः।

(वेदान्त सार)

यहां के और परलोक के जो फल भोग उपस्थित हों अर्थात जो सुख उपस्थित हों, उनके नहीं भोगने की जो इच्छा है वह वैराग्य है।

शंका—इस मर्त्यलोक के जो स्त्री, चन्दन, धन आदि के उपभोग हैं और परलोक के जो अमृतपान, अप्सरा-संभोग आदि उपभोग हैं, उन्हें जब तक स्वप्न की तरह मिथ्या न समझ ले तब तक उनसे वैराग्य नहीं हो सकता है और ऐसा समझना वेदान्त शास्त्र के श्रद्धापूर्वक सदियों तक निरन्तर श्रवण-मनन करने से ही हो सकता है, तब कैसे वेदान्त शास्त्र के श्रवण से पहले अधिकारी को वैराग्य रह सकता है, अतः अधिकारीके लक्षण में वैराग्य का रहना जो कहा गया है, वह तर्क-शून्य है!

समाधान—यद्यपि विषयभोग को निश्चितरूप से मिथ्या समझना वेदान्त शास्त्र के भली भांति श्रवण-मनन से ही होता है, किन्तु श्रवण-मनन से पहले भी ऐह लौकिक और पारलौकिक सारे विषयों में अनेक प्रकार के दोषों का विचार करते २ जो उनके भोगने में एक प्रकार की दोष-दृष्टि उत्पन्न होती है, विषयों में दोष-दृष्टिरूप वह वैराग्य वेदान्त शास्त्र के विचार से पहले अधिकारी में रह सकता है।

वैराग्य दो प्रकार के होते हैं। अपर वैराग्य, पर वैराग्य। उनमें अपर वैराग्य चार प्रकार के होते हैं। यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय, वशीकार।

यतमान वैराग्य

इस संसार में यह वस्तु सार है और यह असार है, इस प्रकार के सामान्यरूप से विचार करके सार वस्तु का ग्रहण करने और असार वस्तु के त्यागने की जो प्रबल इच्छा है, उसे यतमान वैराग्य कहते हैं।

व्यतिरेक वैराग्य

कुछ विषयों से वैराग्य हो चुका है और कुछ से नहीं हुआ है अर्थात् दोष-दर्शन आदि उपायों से कई एक विषयों के उपभोग करने की इच्छा निवृत्त हो चुकी है, उधर घृणा भाव उत्पन्न होता है किन्तु कई एक विषयों के उपभोग करने की इच्छा बनी है ऐसी अवस्था में जिन २ विषयों से वैराग्य नहीं हुआ है, उन विषयों के उपभोग से वैराग्य प्राप्त करने का जो प्रयत्न करना है, उसे व्यतिरेक वैराग्य कहते हैं।

एकेन्द्रिय वैराग्य

विषय-भोग की इच्छा रहने पर भी विषय-भोग से इन्द्रियों को निरुद्ध रखने को एकेन्द्रिय वैराग्य कहते हैं।

वशीकार वैराग्य

वशीकार वैराग्य का स्वरूप भगवान् पतञ्जलि ने कहा है, जैसे—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् ।
(योग० १।१७)

यहां के और वहां के अर्थात् ऐहलौकिक और पारलौकिक जो पदार्थ हैं, उन सारे पदार्थों में कुछ भी तृष्णा न रखने वालों का वशीकार वैराग्य कहलाता है। वशीकार वैराग्य भी तीन प्रकार के हैं। मन्द, तीव्र, तीव्रतर।

मन्द वशीकार वैराग्य

अपने प्रिय जो स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ हैं, उनके विनाश हो जाने से सारे विषय-भोग के त्यागने की जो इच्छा है, उसे मन्द वशीकार वैराग्य कहते हैं।

तीव्र वशीकार वैराग्य

स्त्री, पुत्र, धन आदि जो विषय-भोग के पदार्थ हैं, वे इस जन्ममें मुझे प्राप्त न हों, इस प्रकारकी स्थिर बुद्धि करके विषयोंके नहीं प्राप्त होने अथवा उनके त्यागने की जो इच्छा है, उसे तीव्र वशीकार वैराग्य कहते हैं।

तीव्रतर वशीकार वैराग्य

इस मर्त्यलोक से लेकर ब्रह्मलोक-पर्यन्त जितने ऊंचे से ऊंचे लोक हैं उन सब का पुनरावर्त्तन होता है अर्थात् सब नाशवान् हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय करके उनको नहीं प्राप्त करने अथवा उनके त्यागने की जो इच्छा है, उसे तीव्रतर वशीकार वैराग्य कहते हैं।

उक्त चार प्रकार का जो अपर वैराग्य है वह सांसारिक विषय-भोगों में दोष-दर्शन से अथवा निरन्तर अभ्यास करने से शीघ्र प्राप्त हो जाता है।

इस वैराग्य के हेतु, स्वरूप और उस वैराग्य से होने वाले कार्य इन सबका निरूपण विद्यारण्य स्वामी ने पञ्चदशी के चित्रदीप में किया है। जैसे—

दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ॥ २७८ ॥

विषय-भोगों में दोष देखना, वैराग्य का हेतु है अर्थात् विषय-भोगों में दोष का विचार करते रहने से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

विषयों के त्यागने की जो इच्छा है, वही वैराग्य का स्वरूप है अर्थात् विषय-भोगों का त्याग कर देने की जो इच्छा है वही वैराग्य है।

विषय-भोगों का त्याग कर देने के पीछे भी जो विषय-भोगों में दीन भाव न होना, वही वैराग्य का कार्य है अर्थात् पीछे कभी यह भाव न हो कि अमुक विषय-भोग मुझे प्राप्त हो। वैराग्य होने से विषय-भोग की कामना निवृत्त हो जाती है।

योगवासिष्ठ आदि वैराग्य-बोधक शास्त्रोंके विचार करनेसे और श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के सत्संग से अथवा ईश्वरकी कृपासे या अपने अत्यन्त शुभ अदृष्टसे यह अपर वैराग्य उत्पन्न होता है।

पर वैराग्य

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।

(योग० १।१८)

आत्म-ज्ञान होनेसे सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों और उक्त तीनों गुणों के कार्य रूप प्रपंच से जो तृष्णा-रहित हो जाना, उसे ही पर वैराग्य कहते हैं। यह पर वैराग्य सारे वैराग्यों की अवधि है।

उक्त दोनों वैराग्यों में से पर वैराग्य तो अधिकारी में नहीं रह सकता है, क्योंकि वेदान्त शास्त्र के विचार करने के पश्चात् जब यह सारा संसार निश्चित रूप से मिथ्या मालूम पड़ने लग जाता है, तब पर वैराग्य उत्पन्न होता है, इसलिये वेदान्त शास्त्र के श्रवण से पहले अधिकारी में यह पर वैराग्य (मिथ्यात्व रूप निश्चय) नहीं रह सकता है, किन्तु अपर वैराग्य, जो विषयों में दोष दर्शन से उत्पन्न होता है, वह वेदान्त शास्त्र के अध्ययन से पहले भी रह सकता है।

उस अपर वैराग्य का तारतम्य अधिकारी के अभ्यास पर निर्भर है अर्थात् जैसा जिस अधिकारी का अभ्यास रहता है वैसा ही उसका वैराग्य बढ़ा हुआ रहता है।

षट् सम्पत्ति

शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति, तितिक्षा ये जो छः प्रकार के साधन हैं, इन सबको षट् सम्पत्तिरूप एक साधन कहते हैं।

शम

मन को सांसारिक विषयों से रोक कर रखना इसी को शम कहते हैं। जैसे कहा है—

श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः।

(वेदान्तसार सू० १९)

सारांश यह कि जिस प्रकार अत्यन्त भूखे मनुष्य की भोजन के सिवा अन्यत्र मानसिक प्रवृत्ति नहीं जाती है, उसी प्रकार वेदान्त के श्रवण-मनन के सिवा अन्य विषयों से रुकी हुई जो मानसिक प्रवृत्ति है उसे शम कहते हैं।

दम

बाह्यविषयेन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्त्तनम्।

(वेदान्तसार सू० २०)

श्रोत्र आदि जो पांच बाह्य इन्द्रिय हैं उनको ज्ञान साधन से भिन्न विषयों से रोककर रखना दम है अर्थात विषय-भोग के पदार्थों से इन्द्रियों को रोककर ज्ञान के साधनों में लगाने को दम कहते हैं।

श्रद्धा

गुरुवेदान्तादिवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा।

(वेदान्त सार सू० २४)

गुरुके वाक्योंमें तथा वेदान्त वाक्योंमें विश्वास रखना श्रद्धा है।

समाधान

निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम् ।

(वेदान्त सार सू० २३)

सांसारिक विषय-भोगों के भोगने की इच्छा से अथवा उन विषय-भोगों को प्राप्त करने की अभिलाषा से चित्त जो चंचल हो रहा है, उस चंचल चित्त को रोक कर ज्ञान के साधन में लगाना, समाधान है ।

उपराम

निवर्त्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणम् उपरतिः।

अथवा—विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः।

(वेदान्त सार सू० २१)

ज्ञान के साधन जो वेदान्त के श्रवण आदि हैं उन्हें करते हुए उनसे भिन्न कर्मों का जो त्याग करना है, उसे उपराम कहते हैं ।

इस उपरतिके हेतु, स्वरूप और कार्य इनका विवेचन विद्यारण्य स्वामी ने पञ्चदशी ग्रन्थके चित्रदीप में किया है । जैसे—

यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः ।
स्युर्हेत्वाद्या उपरतेरित्यसंकर ईरितः ॥ २८० ॥

इस उपरतिके यम आदि हेतु हैं, एकाग्र चित्त होना, उपरति का स्वरूप है और अच्छी तरह व्यवहार का नाश हो जाना उपरति का कार्य है।

तितिक्षा

शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता।

(वेदान्त सार सू० २२)

शीत-उष्ण (सर्दी-गर्मी) सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्व धर्मोंका जो सहनकरना है, उसे तितिक्षा कहते हैं।

इस षट् सम्पत्ति के सेवन करने से ज्ञान का मार्ग सरल हो जाता है, इसलिये जिज्ञासुको इस षट् सम्पत्ति का सेवन अवश्य करना चाहिये।

मुमुक्षुता

सत्-चित्-आनन्द रूप परब्रह्म की प्राप्ति की और जड़-अनित्य-दुःख रूप जो यह संसार है, उसकी और उसके कारण स्वरूप मायाकी निवृत्तिकी जो इच्छा है, उसे मुमुक्षुता कहते हैं।

जिज्ञासु पुरुष अपने मल दोष को कर्मानुष्ठान के द्वारा निवृत्त करके भगवद्भक्ति से, सगुण अथवा निर्गुण उपासना से या योग के अभ्यास से चित्त के विक्षेप दोष को निवृत्त करके फिर साधन-चतुष्टय सम्पन्न होने के पश्चात् आवरण दोष को हटाने के लिये वेदान्त शास्त्र का श्रवण, मनन, निदिध्यासन आत्म-साक्षात्कार पर्यन्त करे।

वेदान्त शास्त्र के श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते करते जब आत्म-साक्षात्कार हो जाता है तब फिर किसी प्रकार का कोई कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता है।

जो कुछ भी मानव जीवन का प्राप्य है वह प्राप्त हो जाता है, केवल वर्त्तमान शरीरतक ही उसके प्रारब्धका भोग रहता है, प्रारब्धानुसार वर्त्तमान शरीर के विनाश होते ही जीवन्मुक्त अवस्था से विदेह कैवल्य अवस्था प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार वेदान्त शास्त्र का फल आत्म-ज्ञान और आत्म-ज्ञान का फल विदेह कैवल्य प्राप्त होता है।

वेदान्त शास्त्र का विषय

इस वेदान्त शास्त्र का विषय जीव-ब्रह्म की एकता है अर्थात सारे जीवों से ब्रह्म की जो एकता है, वही वेदान्त शास्त्र का विषय है।

वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन

सारे संसार का कारण जो माया है, उस माया के साथ सारे संसार का नाश करना और परमानन्द की प्राप्ति करना, वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन है।

वेदान्त शास्त्र का संबन्ध

वेदान्त शास्त्र और ब्रह्म इन दोनों का परस्पर प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है अर्थात् उक्त शास्त्र ब्रह्म का प्रतिपादक है और ब्रह्म प्रतिपाद्य है।

इस विषय में अनेक प्रकार की शंकाएँ तथा उनके समाधान भी शास्त्रों में कहे गये हैं, वे शंका-समाधान 'स्थाणुखननन्याय' के अनुसार निश्चय को दृढ़ करने के लिये अनेक प्रकार के कहे गये हैं। जैसे स्थाणु (लकड़ी के खम्भे) को खोद खोद कर जमीन में रोपने से मजबूती होती है अर्थात् जितना खोद खोद कर हिला डुला कर जमीन में खम्भा गाड़ा जाता है उतना ही मजबूत होता है, इसी प्रकार जितने शंका-समाधान वेदान्त शास्त्र में किये जाते हैं, उतना ही वेदान्त शास्त्र का निश्चय दृढ़ होता है, अतः शंका-समाधान करना उपयुक्त है।

शंका—अधिकारी के लक्षण में जो मुमुक्षुता का लक्षण कहा गया है वह सर्वथा असंगत है, क्योंकि अविद्या-सहित प्रपंच (संसार) की निवृत्ति और ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा होना मुमुक्षुता का स्वरूप कहा गया है। इसमें दो अंश हैं—अविद्या (माया) सहित प्रपंच की निवृत्ति एक अंश है और ब्रह्म की प्राप्ति दूसरा अंश है। इन दोनों अंशों का रहना असंभव है, क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य यह नहीं चाहता है कि स्त्री, पुत्र, धन आदि सुखकारक जो संसार के पदार्थ हैं, उनका विनाश हो अर्थात् संसार के कई एक पदार्थ, जो मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल हैं, उनका विनाश कोई नहीं चाहता है किन्तु एक भी दुःख किसी समय न हो, यही लोगों की कामना रहती है, क्योंकि दुःख काँटे की तरह चित्त में खड़कता है अतएव मानव-स्वभाव का वह प्रतिकूल है और उसकी निवृत्ति तर्क-पूर्ण कहीं

जा सकती है किन्तु अविद्या-सहित सारे संसार की निवृत्ति अभिलपित नहीं है, क्योंकि संसार के अन्तर्गत ही स्त्री, पुत्र, धन आदि भी हैं और उनका नाश होना इष्ट नहीं है।

सारे दुःखों की ही निवृत्ति विवेकी को भी अभिलपित है, क्योंकि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति ऐसी ही देखी जाती है और वे दुःख तीन प्रकार के होते हैं। जैसे—आध्यात्मिक दुःख, आधिभौतिक दुःख, आधिदैविक दुःख।

आध्यात्मिक दुःख

जीव को स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी शरीर में जो दुःख होता है, उसे आध्यात्मिक दुःख कहते हैं।

आध्यात्मिक दुःख भी दो प्रकार के होते हैं वाह्य, आन्तर।

वाह्य दुःख

स्थूल शरीर में रहने वाले जो कफ, पित्त, वायु ये तीन प्रकार के धातु हैं उनके वैषम्य (प्रकोप) से जो ज्वर आदि दुःख उत्पन्न होते हैं, उन्हें वाह्य आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। इसीको व्याधि कहते हैं।

आन्तर दुःख

काम, क्रोध, लोभ, मोह, इच्छा, द्वेष आदि किसी अभिलपित पदार्थ के नहीं प्राप्त होने से चिन्ता, क्लेश आदि दुःख उत्पन्न होते हैं, उन्हें आन्तर आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। इसीको आधि भी कहते हैं।

आधिभौतिक दुःख

सिंह, सर्प, पशु, पक्षी, चोर, लंपट आदि किसी भूत के द्वारा जो दुःख प्राप्त होते हैं, उन्हें आधिभौतिक दुःख कहते हैं।

आधिदैविक दुःख

भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस, ग्रह, देव आदि अदृष्ट वस्तु से जो दुःख प्राप्त होते हैं, उन्हें आधिदैविक दुःख कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों दुःखों की निवृत्ति करने की इच्छा प्राणी मात्र को होती है, अतः तीनों दुःखों की निवृत्ति करना ही पुरुषार्थ है और उन तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति लौकिक तथा वैदिक उपायों के द्वारा हो सकती है। जैसे–आयुर्वेद (वैद्यक) के अनुसार आहार-विहार रखने से, स्वास्थ्य का पूर्ण रूप से परिपालन करने से बाह्य आध्यात्मिक दुःखकी निवृत्ति हो सकती है।

सत् शास्त्रों के मनन से, स्त्री पुत्र आदि की प्राप्ति होने से आन्तर दुःख की निवृत्ति हो सकती है। नीति शास्त्र के अनुसार रहन-सहन रखने से आधिभौतिक दुःख की निवृत्ति हो सकती है।

मन्त्र शास्त्र के पूर्णतया ज्ञान से और उसके अनुष्ठान करने से आधिदैविक दुःख की भी निवृत्ति हो सकती है।

इस प्रकार अपने २ अलग २ उपाय के द्वारा सारे दुःखों की निवृत्ति हो सकती है, वही विवेकशील पुरुष का अभिलषित है।

सारे जगतकी निवृत्ति तो किसीको अभिलषित नहीं है, अतः मुमुक्षुता का जो प्रथम अंश है उसका कोई भी अधिकारी न होने के कारण वह सर्वथा असंगत है !

इसी प्रकार उसका जो दूसरा अंश "ब्रह्म की प्राप्ति करने की इच्छा" कहा गया है वह भी असंगत है, क्योंकि जिस वस्तु का अनुभव नहीं होता है उसकी प्राप्ति करने की इच्छा किसी को भी नहीं होती है। जैसे विदेश की कई वस्तु अज्ञात होने से उसकी अभिलाषा नहीं होती है, वैसे ब्रह्म भी जिज्ञासु को अज्ञात है, अतः उसकी प्राप्ति करने की इच्छा करना भी युक्ति-विरुद्ध है!

ज्ञानी पुरुष को ब्रह्म का ज्ञान रहता है। उन्हें ब्रह्म ज्ञात है। उनको तो ब्रह्म की प्राप्ति करने की इच्छा भी नहीं हो सकती, तात्पर्य यह कि जो वस्तु नित्य प्राप्त रहती है उसे प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती है।

ज्ञानी को ब्रह्म नित्य प्राप्त है इसलिये ज्ञानी पुरुष को ब्रह्म प्राप्त करने की अभिलाषा होती है, यह कहना संगत नहीं है। जिस प्रकार साधन अवस्था में ब्रह्म का ज्ञान न रहने के कारण जिज्ञासु के लिये ब्रह्म की जिज्ञासा असंभव है, उसी प्रकार निश्चित रूप से सर्वदा ज्ञात रहने के कारण सिद्धावस्था में ज्ञानी के लिये भी ब्रह्म की जिज्ञासा असंभव है।

इस प्रकार की आलोचना करने से मुमुक्षु होने की जो परिभाषा है वह सर्वथा तर्क-शून्य है।

विषय खण्डन

जीव ब्रह्म की एकता जो वेदान्त शास्त्र का विषय कहा गया है, वह असंभव है, क्योंकि जीव तो सुख-दुःख का भोक्ता है, राग-द्वेष युक्त है। एक देशी है, नाना (असंख्य) है और ब्रह्म ठीक उसके विरुद्ध है, क्योंकि वह तो सुख-दुःख से परे है। राग-द्वेष भी उसे नहीं है और सर्व देशी होने के कारण व्यापक है तथा एक है ऐसा ही शास्त्र में सुना जाता है।

उक्त प्रकार अन्धकार-प्रकाश की तरह परस्पर एक दूसरे से विपरीत स्वभाव के रहने के कारण दोनों की एकता (अभेद) कैसे हो सकता है!

यदि यह कहा जाय कि सारे प्राणियों में एक ही जीव है, केवल शरीर असंख्य हैं तो एक प्राणी को सुख अथवा दुःख प्राप्त होने से सारे प्राणियों को सुखी अथवा दुःखी होना चाहिये।

एक प्राणी सुखी और एक प्राणी दुःखी यह भेद भाव कैसे रह सकता है। प्रत्यक्ष रूप से सुख-दुःख की विभिन्न व्यवस्था दीखने के कारण असंख्य जीव मानना ही पड़ता है, क्योंकि जीव को सुख-दुःख होते हैं। शरीर तो जड़ है, उसे सुख-दुःख नहीं हो सकते हैं, इसलिये संसार में किसी जीव को सुखी और किसी जीव को दुःखी देखने के कारण एक जीववाद स्वीकार करना युक्ति-शून्य है और नाना जीववाद युक्ति-युक्त है। यदि यह कहा जाय कि एक २ जीव के साथ एक २ अन्तःकरण अलग २

रहता है किन्तु उन सारे अन्तःकरणों का जो साक्षी है वह एक है और उससे ब्रह्म की जो एकता है वही जीव-ब्रह्म की एकता कही जाती है, यह भी संगत नहीं है, क्योंकि प्रथम तो अन्तःकरण और जीव से भिन्न साक्षी मानना वन्ध्या-पुत्र के समान अलीक है।

उक्त प्रकार के साक्षी मानने पर भी वह एक नहीं हो सकता है क्योंकि अन्तःकरण के सारे धर्म राग-द्वेष, लोभ, मोह, भय आदि जितने हैं, उन सब का विषय करने वाला तो साक्षी ही हो सकता है अर्थात् उस साक्षी के द्वारा ही सारे आन्तर सुख-दुःख आदि पदार्थों का भान हो सकता है, क्योंकि अन्तःकरण के आश्रित जो सुख-दुःख आदि धर्म हैं, उनका भान अन्तःकरण के द्वारा तो हो नहीं सकता है, क्योंकि सारे धर्मों का आश्रय (आधार) अन्तःकरण है, जो आश्रय होता है वह अपने आश्रित को विषय नहीं करता है, जैसे नेत्र के आश्रित जो अञ्जन है, उसको नेत्र नहीं विषय करता है, अर्थात् नेत्र से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

उसी प्रकार अन्तःकरण के आश्रित सुख दुःख आदि धर्मों का अन्तःकरण से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इन्द्रियों के द्वारा भी उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि इन्द्रियों के तो अपने अपने जो अलग २ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषय हैं, उन विषयों का ही उनके द्वारा प्रत्यक्ष हो सकता है। सुख-दुःख आदि आन्तर धर्मों का प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता

है, क्योंकि श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण ये जो पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, वे बाह्य हैं। बाह्य जो शब्द आदि विषय हैं उनका प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रियों के द्वारा होता है, आन्तर सुख-दुःख आदि जो पदार्थ हैं, उनका प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता है यही नियम है।

अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा भी सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्तःकरण की जो वृत्ति है वह भी अन्तःकरण के आश्रित है और सुख-दुःख आदि भी अन्तःकरण के ही आश्रित हैं, इसलिये वृत्ति के अत्यन्त समीपवर्त्ती होने के कारण सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष वृत्ति के द्वारा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि वृत्ति का यही स्वभाव देखा जाता है कि उसके अत्यन्त नजदीक वस्तु का प्रत्यक्ष उसके द्वारा नहीं होता है।

इस प्रकार विवेचन करने से जब यह सिद्ध है कि अन्तःकरण या अन्तःकरण की वृत्ति अथवा इन्द्रियां इन सब में से किसी के द्वारा सुख-दुःख आदि आन्तर विषय का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है तब स्वतः यह सिद्ध हो जाता है कि इन सबसे भिन्न एक साक्षी भी है। उसीके द्वारा सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष होता है। अब यदि "वह साक्षी एक है" ऐसा कहें तो उस एक साक्षी के द्वारा ही असंख्य जीवों के सारे अन्तःकरणों के आश्रित जो सुख-दुःख आदि आन्तर धर्म हैं, उन सबका

प्रत्यक्ष होना चाहिये, किन्तु ऐसा प्रत्यक्ष किसी को नहीं होता है। दूसरे का सुख अथवा दुःख दूसरे को मालूम नहीं पड़ता है इसलिये "एक साक्षी है" ऐसा कहना निर्मूल होता है किन्तु अन्तःकरण के अनुसार साक्षी असंख्य (नाना) मानना पड़ता है और असंख्य साक्षी का ब्रह्म से एकता (अभेद) कहना सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि ब्रह्म एक है और साक्षी नाना हैं। इस प्रकार आलोचना करने से जीव-ब्रह्म की एकता जो वेदान्त शास्त्र का विषय कहा गया है वह तर्क-रहित होने से मान्य नहीं है।

प्रयोजन खण्डन

अविद्या-सहित प्रपञ्च (जगत्) की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन कहा गया है किन्तु यह प्रयोजन भी वेदान्त शास्त्र के अधिकारी और विषय की तरह असंभव है, क्योंकि संसार में यही नियम देखा जाता है कि शास्त्र से अथवा अन्य किसी प्रकार के शब्द से जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान से भ्रान्त (कल्पित) वस्तु की ही निवृत्ति होती है और जो सत्य वस्तु है उसकी निवृत्ति शब्द-ज्ञान से नहीं होती है। जैसे—रज्जु में जो कल्पित सर्प है उसकी निवृत्ति तो "यह रज्जु है सर्प नहीं है" इस प्रकार के शब्द-ज्ञान होने से हो जाती है किन्तु जो रज्जु में कल्पित सर्प नहीं है, सत्य सर्प है, बिल आदि प्रदेशमें सचमुच विद्यमान है उस सर्प की निवृत्ति "यह सर्प नहीं है" ऐसा शब्द-ज्ञान कर लेने से नहीं होती है।

उसी प्रकार यह प्रपञ्च सत्य है, मिथ्या नहीं है और उस सत्य प्रपञ्च की निवृत्ति वेदान्त शास्त्र के ज्ञान से नहीं हो सकती है।

यह प्रपञ्च कल्पित नहीं है क्योंकि किसी वस्तु को कल्पित सिद्ध करने में पांच प्रकार की सामग्री की अपेक्षा होती है। जैसे- सत्य वस्तु के ज्ञान से उत्पन्न संस्कार, प्रमातृ दोष, प्रमाण दोष, प्रमेय दोष, अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान और विशेष रूप से अज्ञान।

उक्त सामग्री (कारण समुदाय) प्रपंच में हो तो यह प्रपञ्च मिथ्या साबित हो सकता है किन्तु उनमें से एक भी सामग्री प्रपञ्च में नहीं है। जैसे--

सत्य वस्तु का संस्कार

सत्य वस्तु के ज्ञान-जन्य संस्कार रहने से कल्पित वस्तु सिद्ध होती है। जो वस्तु कहीं भी सत्य हो और उस सत्य वस्तु का ज्ञान पहले कभी हुआ हो, उस सत्य ज्ञान से एक संस्कार (वासना) उत्पन्न होकर अन्तःकरण में अवस्थित रहता है, उस संस्कार के रहने के कारण उस वस्तु से भिन्न वस्तु में भी उस वस्तु का, जिसका संस्कार है, ज्ञान हो जाता है इसीको भ्रम और विपर्यय कहते हैं। उक्त नियमानुसार यह कैसे वेदान्त शास्त्र में कहा जाता है कि एक ही

ब्रह्म सत्य है और उसीमें यह सारा संसार कल्पित है, अर्थात् भ्रम से संसार दीखता है। भ्रम होने के पहले यदि संसार की सत्यता सिद्ध हो सके और उस सत्य संसार के ज्ञान से उत्पन्न एक संस्कार अन्तःकरण में रहे, जिस संस्कार के बल से संसार से भिन्न जो ब्रह्म है, उसमें संसार का भ्रम हो। वैसा तो नहीं है, क्योंकि संसार की सत्यता कहीं भी नहीं देखी गयी है, जिससे उसका भ्रम हो सके, जो चीज कहीं भी सत्य नहीं है, उसका कभी भ्रम होता ही नहीं, इस प्रकार सत्य संसार के ज्ञान-जन्य संस्कार नहीं रहने के कारण संसार को कल्पित कहना युक्ति-विरुद्ध है।

प्रमातृ दोष

अध्यास होने के लिये प्रमाता (अन्तःकरण) में भय, लोभ आदि दोषों का रहना आवश्यक है।

प्रमेय दोष

प्रमेय में अर्थात् भ्रम होने के अधिष्ठान भूत पदार्थ में सादृश्य रूप दोष का रहना भी अनिवार्य है।

जिस वस्तु का अध्यास (भ्रम) जिस प्रदेश में होता है, उस प्रदेश में उस वस्तु का जब सादृश्य रहता है तभी भ्रम होता है यह नियम है अर्थात् अध्यस्त पदार्थ के सदृश ही उसका अधिष्ठान रहना चाहिये।

प्रमाण दोष

नेत्र आदि इन्द्रियों में धुन्धलापन आदि शक्ति-ह्रास रूप जब दोष हो जाता है, तभी भ्रम होता है अतः प्रमाण दोष का रहना भी आवश्यक है।

सामान्य ज्ञान, विशेष अज्ञान

अधिष्ठान का सामान्य रूप से ज्ञान और विशेष रूप से अज्ञान अपेक्षित है अर्थात् जिस प्रदेश में भ्रम होता है उस प्रदेश (वस्तु) का जब सामान्य रूप से ज्ञान रहता है और विशेष रूप से अज्ञान रहता है तभी उस प्रदेश में भ्रम होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त पांच प्रकार की सामग्री (कारण समुदाय) रहने से ही कहीं भी भ्रम हो सकता है। जहां उक्त सामग्री नहीं हैं, वहां पर भ्रम कहना निर्मूल है।

जैसे रज्जु में सर्प-भ्रम तब होता है, जब भ्रम होने से पहले कहीं भी सत्य सर्प का सत्य ज्ञान रहता है और अन्तःकरण में सर्प का भय बना रहता है तथा रज्जु (रस्सी) का आकार सर्प के आकार के सदृश रहता है और नेत्र द्वारा रज्जु का ठीक २ ज्ञान नहीं रहता है अर्थात् नेत्र में अन्धकार रहने के कारण 'यह रज्जु है' ऐसा ज्ञान नहीं रहता है।

यदि उपर्युक्त पांच प्रकार की सामग्री में एक भी सामग्री नहीं रहे तो रज्जु में सर्प-भ्रम नहीं हो सकता है यह निश्चित है। प्रपंच के भ्रम होने में एक भी सामग्री नहीं है, अतः प्रपंच (जगत्) मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

यहां यह रहस्य है कि प्रपंच के भ्रम होने से पहले कहीं भी सत्य प्रपंच का ज्ञान रहना आवश्यक है। जब यह सारा प्रपंच अनादि काल से ही मिथ्या है, सत्य नहीं है तब सत्य प्रपञ्च का सत्य ज्ञान कभी कैसे रह सकता है ! वास्तव में प्रपञ्च कभी सत्य माना ही नहीं गया है और जब प्रपञ्च ही सत्य नहीं है तब उसका सत्य ज्ञान कैसे हो सकता है !

यदि इस मिथ्या प्रपञ्च के अतिरिक्त एक सत्य प्रपञ्च माना जाय तो उसकी प्रतीति होनी चाहिये। इस मिथ्या प्रपञ्च के सिवा दूसरा कोई प्रपञ्च दृष्टिगोचर नहीं होता है और "एकमेवाद्वितीयम्" अर्थात् एक ही ब्रह्म सत्य है। ब्रह्म से भिन्न दूसरा कुछ भी सत्य नहीं है, इत्यादि श्रुतियों से विरोध होने के कारण एक ब्रह्म के सिवा दूसरा कुछ भी सत्य कैसे माना जा सकता, इस प्रकार मिथ्या होने की प्रथम सामग्री नहीं रहने के कारण प्रपञ्च मिथ्या कैसे कहा जा सकता !

इसी तरह अन्य सामग्री भी नहीं है, क्योंकि भ्रम होने का जो अधिष्ठान कहा जाता है उस ब्रह्म का और जिसका भ्रम कहा जाता है उस प्रपञ्च का सादृश्य नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च तो बन्धन स्वरूप है, जड़ स्वरूप है और अनेकानेक आकार से युक्त है और ब्रह्म ठीक उसके विरुद्ध मोक्ष स्वरूप है, प्रकाश स्वरूप है और निराकार है इस प्रकार की जाज्वल्यमान विषमता रहने पर सादृश्य कैसे कहा जा सकता !

प्रमातृ दोष तथा प्रमाण दोष रूप सामग्री भी यहां नहीं है, क्योंकि जैसे रज्जु में सर्प के अध्यास (भ्रम) होने से पहले प्रमाता (अन्तःकरण) सत्य रहता है और प्रमाण रूप इन्द्रिय सत्य रहता है, तब अध्यास (भ्रम) होता है । यहां तो अध्यास (भ्रम) से पहले प्रमाता और प्रमाण के स्वरूप का ही अभाव है, क्योंकि जो प्रमाता और प्रमाण प्रतीत होते हैं, जगत के अन्तर्गत होने के कारण जगत की तरह वे भी मिथ्या ही हैं ।

इस प्रकार प्रमाता और प्रमाण के वास्तविक स्वरूप के अस्तित्व नहीं रहने के कारण उनके दोषों का अर्थात् प्रमातृ दोष और प्रमाण दोष का अस्तित्व अध्यास से पहले कथमपि नहीं रह सकता है ।

इसी तरह जगत् के अध्यास होने का (पञ्चम कारण) भी नहीं है, क्योंकि "ब्रह्मरूप अधिष्ठान का सामान्यरूपसे ज्ञान और विशेषरूप से अज्ञान" यही पञ्चम कारण कहा गया है, वह असंभव है, ब्रह्मरूप अधिष्ठान में सामान्य-विशेष भाव नहीं है । सामान्य-विशेष भाव मानने से द्वैत अङ्गीकृत होता है और अद्वैत सिद्धान्त का व्याघात हो जाता है । जैसे प्रकाश में अन्धकार नहीं रह सकता है, वैसे ही स्वयंप्रकाश ब्रह्म में विशेष अज्ञान भी नहीं रह सकता है, इस प्रकार गवेषणा करने से जगत के अध्यास (मिथ्या) सिद्ध करने की सामग्री

(कारण समुदाय) नहीं रहने के कारण यह जगत् मिथ्या नहीं कहा जा सकता है।

अपौरुषेय सर्व मान्य प्रमाण स्वरूप जो वेद शास्त्र है उसमें इस जगत की उत्पत्ति कही गयी है। जैसे—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः।

अर्थात उस मायाविशिष्ट चेतन रूप ईश्वर से पहले आकाश उत्पन्न हुआ, इस प्रकार जगत की उत्पत्ति वेद में उपलब्ध होने से मिथ्या नहीं कहा जा सकता किन्तु वेद प्रमाण से सिद्ध होने के कारण सत्य ही कहा जा सकता है।

यदि यह जगत मिथ्या होता तो इससे कुछ कार्य नहीं होता, इसमें क्रिया शक्ति कैसे होती ! क्योंकि रज्जु में कल्पित जो सर्प है, उस सर्प से कार्य नहीं होता है, अर्थात् वह सर्प किसीको डस नहीं सकता है, उस मिथ्या सर्प में क्रिया शक्ति नहीं है, किन्तु जगत के सत्य सर्प लोगों को डस सकते हैं, उनमें क्रियाशक्ति देखी जाती है, अतः जगत मिथ्या नहीं कहा जा सकता है।

इस जगत के सारे पदार्थ व्यावहारिक उपलब्ध होने से इसकी सत्यता सिद्ध होती है। सत्य वस्तु की निवृत्ति ज्ञान से नहीं होती है, अतः ज्ञान से जगत की निवृत्ति जो इस शास्त्र का प्रयोजन है, वह सर्वथा असंगत है अर्थात् ज्ञान के द्वारा जगत की निवृत्ति रूप जो वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन माना गया है वह सर्वथा युक्ति-विरुद्ध है।

इसी प्रकार वेदान्त शास्त्र के प्रयोजन का दूसरा अंश जो परमानन्द की प्राप्तिस्वरूप माना गया है वह भी संतोप-जनक नहीं है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप ही श्रुतियों में परमानन्द कहा गया है। स्वतः परमानन्द स्वरूप जीवात्मा को परमानन्द-प्राप्ति की इच्छा होना पिष्ट-पेपण की तरह व्यर्थ है। जिसे भूख है, उसे भोजन करने की इच्छा होती है और भोजन किये हुए क्षुधा-रहित पुरुप को भोजन करने की इच्छा नहीं होती है। परमानन्द स्वरूप इस जीवात्मा को परमानन्द प्राप्त करने की इच्छा होती है, यह कहना असंगत है।

इस तरह वेदान्त शास्त्र के अधिकारी, विपय और प्रयोजन के असंभव होने से वेदान्त शास्त्र का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव रूप जो संबंध कहा गया है वह भी सर्वथा असंगत हो जाता है। वस्तु सिद्ध नहीं होने से उस वस्तु का संबंध कैसे सिद्ध हो सकता है!

इस प्रकार अधिकारी, विपय, प्रयोजन, संबंध रूप अनुबन्ध चतुष्टय के अभाव होने से वेदान्त शास्त्र का प्रारम्भ करना सर्वथा निष्फल है।

अधिकारी का मण्डन

यह जो आक्षेप किया जाता है कि अविद्या-सहित जगत की निवृत्ति मनुष्य नहीं चाहता है किन्तु तीन प्रकार के अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःख, जो संसार में उपलब्ध होते हैं, उनकी निवृत्ति चाहता है।

वह लौकिक और वैदिक उपायों से ही पूर्वोक्त रूप से हो सकती है, यह कहना सर्वथा असंगत है, क्योंकि जब तक अविद्या-सहित जगत की निवृत्ति नहीं होती है तब तक आध्यात्मिक आदि उक्त त्रिविध दुःखों की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती है। प्रथम तो उक्त त्रिविध दुःख लौकिक या वैदिक साधनों से नियमतः निवृत्त नहीं हो सकते हैं और यदि निवृत्त भी होते हैं तो अस्थायी रूप से निवृत्त होते हैं।

सर्वदा के लिये निवृत्त नहीं हो सकते हैं। एक बार किसी औषधि आदि से जिस रोग की निवृत्ति होती है, वही रोग फिर भी कभी उसी मनुष्य को हो जाता है ऐसा देखने में आता है।

इस प्रकार विवेचना करने से यह निश्चित होता है कि जिस पुरुष का यह समूल जगत निवृत्त हो जाता है, उसीके उक्त त्रिविध दुःख भी नियमतः और सर्वदा के लिये निवृत्त हो सकते हैं क्योंकि जगत के अन्तर्गत ही वे दुःख हैं।

तत्त्व-ज्ञान के द्वारा समूल जगत के निवृत्त होने पर यदि किसी पुरुष को प्रारब्ध कर्म के अनिवार्य भोग रहने से उक्त दुःख उपलब्ध भी होते हैं, तो दुःखाभासरूप से अर्थात् मिथ्या रूप से उपलब्ध होते हैं, जिससे उसके तत्त्व ज्ञान के सर्वोत्तम सुखानुभव में किसी प्रकार बाधा नहीं होती है और उस दुःख से तत्त्व ज्ञानी पुरुष विकल नहीं होते हैं, अतः उक्त त्रिविध दुःख की जो ऐकान्तिक (निश्चितरूप से) और आत्यन्तिक (सर्वदा के लिये) निवृत्ति है, जो मनुष्य का परम अभिलषित है, उसके

लिये ही बुद्धिमान् जिज्ञासु पुरुष अविद्या-सहित जगत की निवृत्ति चाहता है और वह वेदान्त शास्त्र के श्रवण का अधिकारी बनता है। वेदान्त शास्त्र की अनेकानेक युक्तियों के द्वारा जगत को दृढ़-रूप से मिथ्या समझने से अविद्या-सहित जगत की निवृत्ति होती है और उसकी निवृत्ति होने से ही उक्त त्रिविध दुःख की भी नियमतः सर्वदा के लिये निवृत्ति हो जाती है।

अन्य किसी तन्त्र, मन्त्र, नीति, औषध, कर्म आदि लौकिक और वैदिक साधनों से वैसी निवृत्ति नहीं होती है इसीलिये नियमतः सर्वदा के लिये त्रिविध दुःखों की निवृत्ति के अभिलाषी पुरुष वेदान्त शास्त्र का अधिकारी बनता है।

"जिस वस्तु का पहले अनुभव होता है उसी की प्राप्ति की इच्छा होती है, ब्रह्म का अनुभव कभी नहीं हुआ है अतः उसकी प्राप्ति की इच्छा असंभव है" यह आक्षेप भी सर्वथा असंगत है, क्योंकि अनुभव रहने पर भी प्रतिकूल वस्तु की इच्छा किसी को नहीं होती है। एक बार अनुभव रहने पर भी रोग-प्राप्ति की अभिलाषा किसी को नहीं होती है। नियम तो यह है कि अपने अनुकूल वस्तु के ही अनुभव रहने पर उसकी प्राप्ति की इच्छा होती है और उसके सजातीय (सदृश) वस्तु की भी प्राप्ति की इच्छा होती है। जैसे-लड्डू खाकर उसके अनुभव से उसके और उसके सजातीय दूसरे मिष्टान्न के भी, जिसका अनुभव नहीं रहता है, खाने की रुचि होती है।

इसी प्रकार विषय-सुखका अनुभव थोड़ा बहुत सबको रहता है और सुख सब को अनुकूल भी है अतः सुख प्राप्त करने की अभिलाषा सब की होती है। ब्रह्म परम सुख (परमानन्द रूप) है, ऐसा आप्त पुरुष से सुनकर उसके अनुभव नहीं रहने पर भी सामान्य विषय-सुख के अनुभव रहने के कारण उस परमानन्द रूप ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा बुद्धिमान् पुरुष करता है।

इस प्रकार की मीमांसा से वेदान्त शास्त्र के अधिकारी के विषय में किसी प्रकार का आक्षेप नहीं रह जाता है यह निर्विवाद है।

विषय मण्डन

यह आक्षेप किया गया था कि "वेदान्त शास्त्र का विषय जो जीव और ब्रह्म की एकता अभिलपित है वह असंभव है, क्योंकि जीव अविद्यादि पञ्चक्लेश से युक्त तथा सुख-दुःख का भोक्ता, नाना और परिच्छिन्न (एकदेशीय ;) हैं और ब्रह्म अविद्यादि पञ्चक्लेशों से रहित है और सुख-दुःख का भोक्ता नहीं है, वह एक तथा अपरिच्छिन्न (व्यापक) है, इस प्रकार जीव और ब्रह्म के परस्पर विरुद्ध स्वभाव रहने से दोनों की एकता असंभव है" यह कहना युक्ति-विरुद्ध और अशास्त्रीय है, क्योंकि चारों वेदों के द्वारा जीव और ब्रह्मकी एकता का प्रतिपादन निःसंकुचित रूप से किया गया है। जैसे—

अथर्ववेद—'अयमात्मा ब्रह्म' ऋग्वेद—'प्रज्ञानं ब्रह्म' सामवेद—'तत्त्वमसि' यजुर्वेद—'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महा-

वाक्यों से जीव और ब्रह्म दोनों की एकता ही कही जाती है।

जीव यद्यपि ब्रह्म से समस्त स्वरूप से विभिन्न है, किंतु अधिष्ठानभूत चेतन, जो जीव का प्रधान अंश है, उससे ब्रह्म की एकता संभव है और वही एकता वेदान्त शास्त्र का विषय है।

यहां रहस्य यह है कि अन्तःकरण अथवा व्यष्टि अविद्या रूप उपाधि और उसमें प्रतिबिम्बित चेतन का आभास तथा अन्तःकरण का या व्यष्टि अविद्या का अधिष्ठान चेतन इन तीन अंशों से जीव का स्वरूप निर्मित है। उनमें अधिष्ठान चेतन जो साक्षी स्वरूप है, वह सुख-दुःख का भोक्ता नहीं है, एक है और अपरिच्छिन्न है और ब्रह्म चेतन भी वैसे ही एक, अपरिच्छिन्न, अभोक्ता है अतः दोनों की अर्थात् जीव के अधिष्ठान चेतन अंश की और ब्रह्म की एकता संभव है।

सुख-दुःख का भोक्ता अन्तःकरण रूप अंश है और वह नाना (असंख्य) तथा परिच्छिन्न है। वह जब तक रहता है उसमें चेतन का आभास पड़ता रहता है। अन्तःकरण के लय होने पर वह आभास भी नहीं रहता है। आभास-सहित अन्तःकरण के ही राग-द्वेष आदि सारे धर्म हैं। अधिष्ठान का एक भी धर्म नहीं है। अधिष्ठान का प्रकाशस्वभाव होने से अपने समीप की वस्तुओं में दीप की तरह स्वभावतः वह प्रकाश प्रदान करता रहता है।

अन्तःकरण अथवा व्यष्टि अविद्या में उस प्रकाश के ग्रहण करने की शक्ति है। अन्तःकरण अथवा व्यष्टि अविद्या अत्यन्त स्वच्छ पदार्थ है इसलिये उसमें अधिष्ठानभूत चेतन का आभास स्पष्ट रूप से पड़ता है।

घट-पट आदि विषयों में अस्पष्ट रूप से उसका आभास पड़ता है। अन्तःकरण में स्पष्ट आभास पड़ने के कारण ही चैतन्य मालूम पड़ता है, नहीं तो घट-पट की तरह अन्तःकरण भी जड़ है। प्रकाश प्रदान करने के कारण ही अधिष्ठान चेतन साक्षी कहलाता है, अतः उस अधिष्ठान चेतन का और ब्रह्म का अभेद सर्वथा युक्ति-युक्त है।

प्रत्येक शरीर में विभिन्न अन्तःकरण रहने के कारण एक के सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि धर्मों को दूसरा नहीं जान सकता है। अन्तःकरण तथा उसकी जगदाकार वृत्ति और उसमें अवस्थित चिदाभास इन सबका बाध करके अधिष्ठान चेतन से ब्रह्मके अभेद-प्रतिपादन में श्रुतियों का तात्पर्य है। जैसे–रज्जु में जो कल्पित सर्प है, उसका बाध करके उस सर्प के अधिष्ठानभूत रज्जु के स्वरूप का साक्षात्कार किया जाता है, वैसे ही ब्रह्म में अन्तःकरण और उसकी अनेकाकार वृत्ति (परिणाम) स्वरूप यह संपूर्ण जगत् और इन्द्रियां सबके सब कल्पित हैं, अधिष्ठान जो ब्रह्म है उससे भिन्न उनका स्वरूप कुछ नहीं है, अतः उन सबका बाध करके अधिष्ठान भूत ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाता है।

जीव का जो अधिष्ठान चेतन अंश है, जो साक्षी स्वरूप है, उससे ब्रह्म का तो मुख्य अभेद है अर्थात् स्वतः अभेद सिद्ध है। स्वतः अभेद ही मुख्य सामानाधिकरण्य कहा जाता है। जीवके जो अन्तःकरण और चिदाभास अंश हैं, कल्पित सर्प की तरह इन

के स्वरूप का बाध करके जीवका ब्रह्म से जो अभेद सिद्ध होता है, वह अभेद बाध सामानाधिकरण्य कहा जाता है।

सारांश यह कि मुख्य सामानाधिकरण्य और बाध सामानाधिकरण्य दोनों प्रकार से जीव और ब्रह्म का अभेद है यही उपनिषदों का तात्पर्य है और वह तात्पर्य सर्वथा युक्ति-युक्त भी है।

प्रयोजन मण्डन

यह जो आक्षेप किया गया है कि–"यह जगत रूप सारा प्रपञ्च सत्य है, मिथ्या नहीं है और सत्य वस्तु की निवृत्ति ज्ञान से नहीं होती है किन्तु मिथ्या वस्तु की निवृत्ति ज्ञान से होती है" यह युक्ति-विरुद्ध और शास्त्र तात्पर्य-रहित है।

'नेह नानास्ति किंचन' 'मायामात्रमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियों से यह प्रपञ्च (जगत) मिथ्या ही सिद्ध होता है। उसके विरुद्ध में जो युक्तियां दी गई हैं वे सर्वथा असंगत हैं, क्योंकि यह नियम नहीं है कि सत्य वस्तु के ज्ञान-जन्य संस्कार, प्रमातृ दोष, प्रमाण दोष, प्रमेय दोष और अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान तथा विशेष अज्ञान इन पांच कारणों के बल से ही अध्यास होता है। इन कारणों के नहीं रहने पर भी अध्यास देखा जाता है।

सत्य ज्ञान-जन्य संस्कार का खण्डन

प्रथम कारण अर्थात सत्य वस्तु के ज्ञान से उत्पन्न संस्कार के नहीं रहने पर भी मिथ्या वस्तु के ज्ञान से उत्पन्न संस्कार के

बल से भी अध्यास हो जाता है। जैसे—जिस पुरुष ने कभी असल छुहारे का वृक्ष नहीं देखा है किन्तु बाजीगर के द्वारा कल्पित मिथ्या छुहारा वृक्ष देखा है, उसको भी उस मिथ्या छुहारा वृक्ष के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के बल से ही वन के खजूर-वृक्ष में छुहारा वृक्ष का विभ्रम (अध्यास) हो जाता है, क्योंकि छुहारा वृक्ष के सदृश खजूर वृक्ष भी होता है, अतः यह नियम नहीं हो सकता है कि जिसका विभ्रम होता है, विभ्रम से पहले उसके असली स्वरूप का ही ज्ञान रहे, क्योंकि वास्तविक ज्ञान नहीं रहने पर भी खजूर वृक्ष में छुहारा वृक्ष का विभ्रम देखा जाता है।

नियम तो यह है कि अध्यास होने से पहले सत्य अथवा मिथ्या किसी रूप से उसका ज्ञान रहना चाहिये और उस ज्ञान से उत्पन्न संस्कार का रहना अध्यास होने के समय आवश्यक है।

शंका—जिसका अध्यास होता है, अध्यास होने से पहले उसका ज्ञान मात्र रहना अनिवार्य है। ज्ञान-जन्य संस्कार रहने की क्या आवश्यकता है।

समाधान—कार्य होने के अव्यवहित पूर्व क्षण में (उसके ठीक प्रथम क्षण में) कारण का रहना अनिवार्य होता है।

घट उत्पन्न होने के ठीक पूर्व क्षण में वहां कुलाल, दण्ड, चक्र, चीवर आदि घट के कारणों का रहना अनिवार्य रूप से देखा जाता है।

अध्यास होने में यदि उसका ज्ञान ही कारण रूप से अभिलषित हो तो उसे अध्यास होने के ठीक पूर्व क्षण में रहना चाहिये और ऐसा नहीं रहता है, क्योंकि रज्जु में सर्प के अध्यास होने के अव्यवहित पूर्व क्षण में सर्प का ज्ञान नहीं रहता है किन्तु कुछ दिन पहले दृष्ट सर्प का ज्ञान हुआ था और वह कभी का ज्ञान नष्ट भी हो चुका है किन्तु उस ज्ञान से उत्पन्न होकर एक संस्कार अन्तःकरण में रहता है, वह संस्कार अध्यास होने के अव्यवहित पूर्व कालमें रहता ही है, उसीसे अध्यास होता है।

इस प्रकार की विवेचना से अध्यास का हेतु ज्ञान नहीं, किंतु ज्ञान-जन्य संस्कार माना जाता है।

यदि यह कहा जाय कि कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में अनिवार्यरूप से कारण का रहना आवश्यक नहीं है, क्योंकि इस जन्म के किये गये यज्ञ से दूसरे जन्म में स्वर्ग-सुख रूप फल प्राप्त होता है।

स्वर्ग-सुख होने के अव्यवहित पूर्व क्षण में यज्ञ नहीं रहता है। यज्ञ तो क्रिया विशेष है, तभी नष्ट हो जाता है, उसका कार्य जो स्वर्ग है वह बहुत दिनों के बाद मिलता है, यह कहना असंगत है क्योंकि स्वर्ग का साक्षात् कारण यज्ञ नहीं है।

यज्ञ से एक संस्कार उत्पन्न होकर अन्तःकरण में रहता है वह संस्कार स्वर्ग का साक्षात् कारण है, क्योंकि स्वर्ग उत्पन्न होने के अव्यवहित पूर्व कालमें रहता हुआ वह संस्कार स्वर्ग का हेतु होता है।

यज्ञ तो स्वर्ग का परम्परा हेतु है, अतः कार्य के अव्यवहित पूर्व कालमें कारण की सत्ता अनिवार्य है इस नियम-पालन में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती है।

इस प्रकारकी विवेचना से सिद्ध है कि अध्यास होनेके अव्यवहित पूर्व क्षण में अतीत पूर्व जन्म के मिथ्या जगत के अनुभव-जन्य संस्कार के रहने से वर्त्तमान जगत का अध्यास होता है।

अतीत पूर्व जन्म के जगत का अध्यास उस जन्म से भी पूर्व जन्म के जगत के अनुभव-जन्य संस्काररूप कारण के बल से होता है इस प्रकार उत्तरोत्तर जगत के अध्यास में उसके पूर्व-पूर्व जगत के अनुभव-जन्य संस्कार कारण होते हैं।

शंका—सबसे पहले के जगत का जो अध्यास होता है उसका कारण क्या है ? सजातीय मिथ्या जगत् भी उसके पहले नहीं था, जिसके अनुभव-जन्य संस्कार अन्तःकरण में विद्यमान होता, क्योंकि सबसे आद्य सृष्टि के पहले कुछ था ही नहीं।

समाधान—वेदान्त सिद्धान्त में ब्रह्म, ईश्वर, जीव, माया तथा इनका परस्पर सम्बन्ध और परस्पर भेद ये छः पदार्थ अनादि माने जाते हैं।

अनादि माया का कार्य यह जगत् भी अनादि है। इसके आदि नहीं रहने के कारण यह नहीं कहा जा सकता है कि सब से पहले की जो सृष्टि हुई है उससे पहले सृष्टि नहीं थी। इस सृष्टि की उत्पत्ति से पहले भी इसी प्रकार की सृष्टि थी और

उस सृष्टि से पहले भी सृष्टि थी, इस प्रकार सृष्टि प्रवाह का कभी आदि नहीं है अतः अनादि जगत की सब से पहले पहल सृष्टि हुई, ऐसा कहने से 'वदतो व्याघातः' दोष लागू होता है अर्थात् वैसा कहना सर्वथा असंगत है, क्योंकि अनादि और सबसे पहले उत्पन्न यह दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं।

जीव अनादि है, उसे इस जगत के अध्यास होने में इससे पूर्व जन्म के जगत का अनुभव रहता है और उस अनुभव से उत्पन्न होकर एक प्रकारका संस्कार उसके अन्तःकरणमें अवस्थित रहता है, उसी संस्कार के बल से इस जन्म के जगत का अध्यास होता है, यानी मिथ्या भूत जगत की सत्य रूप से प्रतीति होने लगती है।

इस प्रकार जीव को पूर्व जन्म के जगत की प्रतीति भी उससे पूर्व के जगत के अनुभव-जन्य संस्कार के रहने से होती है।

कहने का तात्पर्य यह कि इस जीव को इस जगत् की प्रतीति और पूर्व-पूर्व जन्मों की धारा अनादि काल से चली आती है, अतः मिथ्या सजातीय जगत के अनुभव-जन्य संस्कारके अनुरोध से ही जगत् के अध्यास होने में किसी प्रकार का आक्षेप नहीं हो सकता है।

प्रमातृ दोष का खण्डन

यह भी नियम नहीं है कि अध्यास होने के पहले अन्तःकरण-रूप प्रमाता में लोभ, भय आदि दोष रहने ही चाहिये, क्योंकि जो लोभ-रहित संन्यासी पुरुष हैं, उनके अन्तःकरण में किसी प्रकार के लोभ नहीं रहने पर भी उन्हें शुक्ति (सीपी)

में रजत (चांदी) का विभ्रम हो जाता है और किसी प्रकार के भय नहीं रहने पर भी रज्जु में सर्प का विभ्रम देखा जाता है अतः प्रमातृ दोष के नहीं रहने पर भी जगत का अध्यास हो सकता है।

प्रमाण दोष का खण्डन

रूप-रहित आकाश में नील रूप का तथा तम्बू के आकार का अध्यास सब को होता है और सब के नेत्र में दोष है, यह कहना असंगत है अतः प्रमाण दोष (नेत्रादि दोष) अध्यास का हेतु है यह नहीं कहा जा सकता है, इसलिये किसी प्रकार के प्रमाण दोष के नहीं रहने पर भी इस जगत का अध्यास हो सकता है।

प्रमेय दोष का खण्डन

यह आक्षेप किया गया है कि "सादृश्य नहीं रहने से ब्रह्म में जगत का अध्यास नहीं हो सकता है, क्योंकि सादृश्य दोष के रहने से ही अध्यास होता है, रज्जु में सर्प के सादृश्य रहने से ही सर्प का अध्यास देखा जाता है" यह भी नियम नहीं है, क्योंकि क्षत्रियत्व, ब्राह्मणत्व आदि जो जाति हैं, वे जड़ रूप स्थूल शरीर के धर्म होने से जड़ हैं किन्तु चेतन आत्मा में उनका अध्यास देखा जाता है। जैसे—'ब्राह्मणोऽहम्' 'क्षत्रियोऽहम्' अर्थात् 'मैं ब्राह्मण हूँ' 'मैं क्षत्रिय हूँ' इस प्रकार का अध्यास सब को होता है। जड़ और चेतन का सादृश्य नहीं हो सकता है। कभी पित्त दोष के कारण गुड़ में तिक्तता (कड़ुआपन) का

विभ्रम होजाता है और उसमें भी किसी प्रकारका सादृश्य नहीं है। मीठा और कडुआ का अत्यन्त विभिन्न स्वभाव है, इसी तरह श्वेत शंख में विसदृश पीतवर्ण का अध्यास होता है अतः सादृश्य रूप प्रमेय दोष के नहीं रहने पर भी ब्रह्म में जगत् का अध्यास हो सकता है।

सामान्य ज्ञान, विशेष अज्ञान का खण्डन

अधिष्ठान रूप ब्रह्म निर्विशेष है, उसमें सामान्य-विशेष भाव नहीं है, सामान्य-विशेष भाव के अङ्गीकार करनेसे अद्वैत सिद्धान्त का व्याघात होता है और उसके विरुद्ध द्वैत की सिद्धि हो जाती है अतः "अधिष्ठानरूप ब्रह्म के सामान्यरूप से ज्ञान और विशेष रूप से अज्ञान के असंभव होने के कारण ब्रह्म में जगत का अध्यास नहीं हो सकता है" यह जो आक्षेप किया गया था वह भी सर्वथा असंगत है, क्योंकि अपने स्वरूप को आत्मा कहते हैं और वही आत्मा ब्रह्म है। उस आत्मस्वरूप ब्रह्म का 'मैं हूं' इस रूप से सामान्य ज्ञान सब को रहता है और परमानन्द, नित्य, शुद्ध, मुक्त स्वरूपसे जो आत्माका विशेष ज्ञान है, वह संसारी पुरुष को नहीं रहता है, अतः सामान्य रूप से ज्ञान और विशेष रूप से आत्मा के अज्ञान रहने के कारण आत्म-स्वरूप ब्रह्म में जगत का अध्यास हो सकता है।

आत्मा निर्विशेष है, इस अद्वैत सिद्धान्त का भी व्याघात नहीं हो सकता है, क्योंकि आत्मा में सामान्य-विशेष भाव वास्तव में नहीं है, अविद्या-कल्पित है। आत्मा में सामान्य-

विशेष भाव की तरह प्रतीति मात्र है। वास्तव में तो आत्मा निर्विशेष ही है। जैसे-श्रुतियों में कहा है कि 'असंगोह्ययं पुरुषः' अर्थात् यह पुरुष असंग है। यह जो आक्षेप है कि प्रकाश में अन्धकार की तरह स्वयं प्रकाश ब्रह्म में विशेष अज्ञान रूप अन्धकार नहीं रह सकता है, वह भी युक्ति-विरुद्ध है क्योंकि जो पुरुष घोर निद्रारूप सुषुप्ति से जागृत होकर कहता है कि 'अभी सुख से सोया था किन्तु कुछ भी ज्ञान नहीं था' यह उसका स्मरणात्मक ज्ञान है, क्योंकि जागने पर तो उसे ज्ञान विद्यमान है। उसीका स्मरण होता है जिसका पहले कभी अनुभव रहता है और जिसका अनुभव नहीं रहता है उसका स्मरण नहीं हो सकता है, अतः सुषुप्ति से जागने पर सुख और निद्रा (अज्ञान) का स्मरण होने से यह निश्चित है कि सुषुप्ति में सुख और अज्ञान का अनुभव रहता है, इस प्रकार स्वयं प्रकाश आत्मा में विशेष अज्ञान का रहना साबित होता है।

अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुद्ध्यते।
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्धा वदत्यपि ॥ २७ ॥
स्व प्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृतिः।
इत्यादि तर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ ॥ २८ ॥

(पञ्चदशी, चित्रदीप)

किसी विद्वान् के पूछने पर अज्ञानी पुरुष का यह जवाब देना कि मैं कूटस्थ को नहीं जानता हूँ, अनुभव करके ही होता है, यही अज्ञान का अनुभव है। इतना ही नहीं, कूटस्थ नहीं है,

कूटस्थ का भान नहीं होता है, यह भी अनुभव कर के ही वह कहने लगता है, वह आवरण का अनुभव है।

इस प्रकार अध्यास के पांच प्रकार के हेतु के नहीं रहने पर भी अध्यास उपलब्ध होने से ब्रह्म में केवल अविद्या के अद्भुत प्रभाव से ही अध्यास हो सकता है अथवा अन्तिम हेतु अर्थात 'अधिष्ठान रूप ब्रह्म के सामान्य ज्ञान और विशेष अज्ञान' के रहने से ब्रह्म रूप आत्मा में जगत् का अध्यास निर्विघ्न रूप से हो सकता है।

इस प्रकार की गवेषणा से यह प्रपंच (जगत्) मिथ्या प्रमाणित होता है, सत्य नहीं हो सकता है और उस मिथ्या रूप प्रपंच की निवृत्तिरूप प्रयोजन वेदान्त शास्त्र का सिद्ध होता है।

वेदान्त शास्त्र के प्रयोजन के सम्बन्ध में दूसरा आक्षेप किया जाता है कि अपना आत्मा ही परमानन्द स्वरूप है। आत्मा से भिन्न अन्य कुछ परमानन्द नहीं है और वह आत्मा सबको नित्य प्राप्त ही है फिर उसकी प्राप्ति करना व्यर्थ है, क्योंकि अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति होती है। जो नित्य प्राप्त ही है उसकी प्राप्ति पिष्ट-पेषण की तरह अकिञ्चित्‌कर है, यह कहना भी भ्रान्ति-पूर्ण है क्योंकि यद्यपि यह आत्मा ही परमानन्द स्वरूप है, उससे अन्य परमानन्द स्वरूप कुछ नहीं है, तथापि अविवेक से मनुष्य उसे कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी आदि समझता है।

जैसे किसी पुरुष के गले में भूषण रहने पर भी उसे भ्रम से मालूम पड़ता है कि मेरा गले का भूषण खो गया है। जब वह भ्रम हट जाता है और अपने गले में अवस्थित भूषण की स्मृति हो जाती है, तब उसे अप्राप्त की प्राप्ति होती है।

यद्यपि भूषण प्राप्त ही था तथापि भ्रम से अप्राप्त हो गया था और उसकी प्राप्ति से मनुष्य कहने लगता है कि 'मेरा खोया हुआ भूषण मिल गया' इसी प्रकार भ्रान्ति के विनाश से परमानन्द स्वरूप आत्मा की प्राप्ति रूप प्रयोजन कहा जाता है।

सम्बन्ध मण्डन

अधिकारी, विषय और प्रयोजन के सिद्ध होने से वेदान्त शास्त्र के साथ विषय का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध और प्रयोजन का साध्य-साधन भाव सम्बन्ध तथा उक्त शास्त्र के साथ अधिकारी का कर्तृ-कर्त्तव्य भाव सम्बन्ध भी सुरक्षित होता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ के अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध का निरूपण करके जीव और ब्रह्म की एकतारूप जो वेदान्त शास्त्र का विषय है, युक्तियों के द्वारा उसे दृढ़रूपसे निश्चित करने के लिये अध्यारोप और अपवाद न्याय दिखाते हैं।

अध्यारोप

किसी अधिष्ठान (आधार) में वास्तव स्वरूप से अभाव रहने पर भी जो किसी पदार्थका उसमें आरोप करना है, उसे अध्यारोप कहते हैं। जैसे—

रज्जु में वास्तवरूप से सर्प के अभाव रहने पर भी जो सर्प का आरोप है वह अध्यारोप कहा जाता है और शुद्ध ब्रह्म में जीव भाव, ईश्वर भाव और जगत् आदि पदार्थों के वास्तवरूप से अभाव रहने पर भी जो उसमें जीव भाव आदि का आरोप है, वह अध्यारोप है।

अपवाद

अधिष्ठान में जो आरोपित पदार्थ है, उसका जो निषेध करना है, उसे अपवाद कहते हैं।

जैसे रज्जु में आरोपित सर्प का जो 'नायं सर्पः' अर्थात् यह सर्प नहीं है इस प्रकार निषेध (बाध) करना है, वह अपवाद है और वैसे ही 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा अद्वितीय ब्रह्म में आरोपित ईश्वर भाव, जीव, जगत आदि का जो बाध करना है, वह अपवाद है।

यहां रहस्य यह है कि-सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन, निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च, असंगोह्ययं पुरुषः, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।

हे सोम्य! आगे (सब से प्रथम) एक ही अद्वितीय सत् रूप ब्रह्म था, वह ब्रह्म सत्य स्वरूप, चेतन स्वरूप और व्यापक स्वरूप है। विद्वान् पुरुष ब्रह्म के आनन्द स्वरूप को जानकर

सर्वथा निर्भय हो जाता है। वह ब्रह्म कला-रहित है, क्रिया-रहित है, शान्त रूप है, स्वयं प्रकाश है, माया-रहित है; वह साक्षीरूप है, चेतन और केवल स्वरूप है, वह पुरुष असंग है वह एक, अद्वितीय ब्रह्म है इत्यादि श्रुतियों द्वारा निश्चित होता है कि वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द, निष्कल, अक्रिय, शान्त, स्वप्रकाश, निरञ्जन, निर्गुण, समस्त उपाधियों से रहित, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्त, एक और सर्व प्रकारके द्वैत से रहित है।

भूत, भविष्य और वर्तमान में उस ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु वास्तव में नहीं है। जैसा श्रुतियों में कहा है 'नेह नानास्ति किंचन' अर्थात् ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है।

उस ब्रह्म में यह जगत् भ्रान्ति से प्रतीत हो रहा है। जैसे—रज्जु में कभी सर्प नहीं है किन्तु मन्द अन्धकार रहने के कारण भ्रान्ति से रज्जु ही सर्प रूपसे प्रतीत होने लगता है, इसी प्रकार ब्रह्म चेतन में किसी काल में भी यह जगत् नहीं है। मिथ्या अविद्या से ही जगत की प्रतीति हो रही है. वह प्रतीति यद्यपि मिथ्या है किन्तु जब तक अविद्या रूप भ्रान्ति रहती है तब तक सत्य रूप से प्रतीति होती है।

शंका—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति अर्थात् जिस ब्रह्म से इस जगत की उत्पत्ति होती है और उत्पन्न हुए जगत का जिससे पालन होता है, तथा जिसमें यह जगत् अन्त में विलीन हो जाता

है, 'जन्माद्यस्य यतः' अर्थात् जिस ब्रह्मसे इस जगत की उत्पत्ति, पालन तथा लय होता है इत्यादि श्रुति-स्मृति ने ब्रह्म को इस जगत का जो कारण कहा है वह कैसे हो सकता है, क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप अकर्त्ता कहा गया है जो किसी का कर्त्ता नहीं, वह कैसे कारण कहा जा सकता है।

समाधान—कारण तीन प्रकार के होते हैं। उपादान कारण, निमित्त कारण, अधिष्ठान उपादान कारण।

उपादान कारण

जिससे जो कार्य उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर जिससे सदैव अनुस्यूत (अनुगत) रहता है और अन्त में जिसमें विलीन हो जाता है, वह उस कार्य का उपादान कारण है। जैसे—मृत्तिका से घट उत्पन्न होता है, जब तक घट रहता है तब तक मृत्तिका उसमें अनुस्यूत रहती है और घट का लय भी मृत्तिका में ही होता है अर्थात् घट के भंग होने से अन्त में घट मृत्तिकारूप ही हो जाता है अतः मृत्तिका घट का उपादान कारण है।

निमित्त कारण

जिससे जो कार्य उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर जिससे अनुस्यूत नहीं रहता है, वह उस कार्य का निमित्त कारण है। जैसे—कुलाल (कुम्हार) दण्ड, चक्र (चाक), चीवर (सूत) से घट उत्पन्न होता है, किन्तु कुलाल आदि कारण घट

में अनुस्यूत (विद्यमान) नहीं रहते हैं अतः घट के निमित्त कारण कुलाल आदि कहे जाते हैं।

अधिष्ठान उपादान कारण

जो वस्तु जिस कार्य का केवल अधिष्ठान (आधार) मात्र हो, वह उस कार्य का अधिष्ठान उपादान कारण है। जैसे-घट आदि काय का आकाश केवल आधार मात्र है, अतः घट आदि कार्य का अधिष्ठान उपादान कारण आकाश है। उपादान कारण भी तीन प्रकारके होते हैं—आरम्भक उपादान कारण, परिणामी उपादान कारण, विवर्त्ताधिष्ठान उपादान कारण।

आरम्भक उपादान

जो अनेक (एक से अधिक) द्रव्य परस्पर संयुक्त होकर किसी नवीन कार्य को उत्पन्न करे, उसे आरम्भक परिणामी कहते हैं। जैसे-न्याय मत में अनेक परमाणुरूप द्रव्य परस्पर संयुक्त होकर अपने से विलक्षण नवीन जगत को उत्पन्न करते हैं, अतः जगत का 'आरम्भक उपादान' परमाणु होते हैं।

न्याय-वैशेषिक और मीमांसा मत में आरम्भवाद माना गया है किन्तु वेदान्त-सिद्धांत में आरम्भवाद अभिलषित नहीं है, क्योंकि आरम्भक उपादान वही हो सकता है, जो अनेक हों और सावयव हों। ब्रह्म एक है, निरवयव तथा निष्क्रिय है, उसका पारस्परिक संयोग असंभव है, अतः वह जगत का 'आरम्भक उपादान रूप' कारण नहीं हो सकता है। जैसी श्रुति है—

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' 'अविकार्योऽयमुच्यते'

इस प्रकार के एक, अद्वितीय, निष्क्रिय और निरवयव ब्रह्म का संयोग सर्वथा असंभव है और जिसका पारस्परिक संयोग होता है, वही आरम्भक उपादान होता है अतः ब्रह्म इस जगत का आरम्भक उपादान नहीं है।

परिणामी उपादान

उपादानसमसत्ताकान्यथाभावः परिणामः।

जो पदार्थ अपने समान सत्ता वाले किसी पदार्थ का उत्पादक होता हुआ उसमें स्वयं परिणत होकर विद्यमान रहता है, उसे उस कार्य का परिणामी उपादान कारण कहते हैं।

जैसे—दुग्ध का परिणाम दधि है। दोनों की सत्ता समान है क्योंकि दुग्ध और दधि इन दोनों की व्यवहारिक सत्ता है दधि का उत्पादक भी दुग्ध है और वह दुग्ध ही दधि रूप में परिणत होकर विद्यमान रहता है, अतः दधि का परिणामी उपादानरूप कारण दुग्ध होता है। सावयव पदार्थ का ही परिणाम दृष्ट होता है। ब्रह्म निरवयव और जाति, गुण, क्रिया आदि विकारों से रहित है, अतः उसका परिणाम नहीं होने के कारण इस जगत का परिणामी उपादान कारण भी ब्रह्म नहीं हो सकता है।

विवर्त्ताधिष्ठान उपादान

उपादानविषमसत्ताकान्यथाभावो विवर्त्तः ।

जो पदार्थ अपने से विषम सत्ता वाले किसी पदार्थ का उत्पादक होता हुआ भी उससे सदैव निर्लिप्त रहता है, उसे उस कार्य का विवर्त्ताधिष्ठान रूप उपादान कारण कहते हैं।

जैसे—रज्जु में जो प्रतीयमान सर्प है, मिथ्या होने के कारण उसकी प्रातिभासिक या प्रातीतिक सत्ता मानी गयी है और रज्जु का व्यावहारिक सत्ता है, इस प्रकार अपने से विभिन्न सत्ता वाले सर्प का उत्पादक रज्जु है और स्वयं रज्जु उससे सदैव निर्लिप्त है, अर्थात् सर्प की प्रतीति होने से रज्जु में कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं होता है इसलिये उस सर्प का विवर्त्ताधिष्ठान उपादान रज्जु ही होता है इसी प्रकार ब्रह्म इस जगत का विवर्त्ताधिष्ठान उपादान कारण है।

ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है और इस जगत की व्यावहारिक सत्ता है। ब्रह्म में ही यह समस्त जगत प्रतीत हो रहा है और उसकी प्रतीति होने पर भी ब्रह्म सदैव उससे निर्लिप्त रहता है अर्थात् जगत की प्रतीति से वस्तुतः ब्रह्म में कुछ भी विकार नहीं होता है। अतः ब्रह्म इस जगत का विवर्त्ताधिष्ठान उपादान कहा जाता है।

सत्ता तीन प्रकार की मानी गयी है। जैसे—पारमार्थिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता, प्रातिभासिक सत्ता।

पारमार्थिक सत्ता

भूत, भविष्य, वर्त्तमान इन तीनों काल में जिस वस्तु का बाध नहीं होता है, जो सदैव सत्यरूप से विद्यमान रहता है उस वस्तु की पारमार्थिक सत्ता कही जाती है।

ब्रह्म का किसी काल में भी बाध नहीं होता है और सत्य रूपसे ब्रह्म सदैव विद्यमान रहता है, अतः ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है, ब्रह्म से भिन्न संपूर्ण जगत का कभी न कभी बाध हो जाता है, सदैव वह विद्यमान नहीं रहता है, अतः ब्रह्म से भिन्न किसी पदार्थ की पारमार्थिक सत्ता नहीं मानी गयी है।

व्यावहारिक सत्ता

जिस पदार्थ के जन्म, मरण, बन्ध, मोक्ष आदि व्यवहार प्रत्यक्ष रूप से दृष्ट होते हैं और श्रुतियों में भी उपलब्ध होते हैं, तथा ब्रह्मज्ञान होने से सर्वात्मना जिसका विनाश हो जाता है, उस पदार्थ की व्यावहारिक सत्ता कही जाती है।

इस संसार की व्यावहारिक सत्ता है ब्रह्म ज्ञान होने से सर्वात्मना इसका विनाश हो जाता है।

प्रातिभासिक सत्ता

ब्रह्म-ज्ञान नहीं होने पर भी जिस पदार्थका विनाश हो जाता है और जिसमें क्रिया-सम्पादन करने की शक्ति नहीं है तथा जिसकी प्रतीति मात्र है, उस पदार्थ की प्रातिभासिक या प्रातीतिक

सत्ता कही जाती है। रज्जु में जो सर्प प्रतीत होता है, उस सर्प का विनाश ब्रह्म-ज्ञान नहीं होने पर भी रज्जु के ज्ञान से ही हो जाता है, अतः उस सर्प की प्रातिभासिक सत्ता या प्रातीतिक सत्ता कही जाती है।

इस जगत का परिणामी उपादान कारण माया है, क्योंकि माया का ही विकाररूप परिणाम यह संसार है और जगत् तथा माया इन दोनों की सत्ता व्यावहारिक है, ब्रह्म-ज्ञान से संसार और माया दोनों का बाध सर्वदा के लिये हो जाता है, दोनों की उत्पत्ति और लय की प्रक्रिया श्रुतियों में कही गयी है,

शंका—इस संसार का कर्त्ता कौन है ? शुद्ध ब्रह्म क्रिया-रहित होने के कारण संसार का कर्त्ता हो नहीं सकता और माया भी नहीं हो सकती, क्योंकि माया जड़ है। जड़ पदार्थ किसी का कर्त्ता नहीं हो सकता है। चेतन ही सर्वत्र कर्त्ता देखा जाता है, अतः माया और ब्रह्म के अतिरिक्त तीसरा कौन इस संसार का कर्त्ता हो सकता है ?

समाधान—इस संसार का कर्त्ता ईश्वर है।

ईश्वर

माया और माया में ब्रह्म चेतन का आभास तथा माया का और उस आभास का आधारभूत ब्रह्म चेतन इन तीनों की समष्टि को ईश्वर कहते हैं।

उक्त प्रकार से ईश्वर के स्वरूप में तीन अंश हैं, उसमें माया भाग तो इस संसार का परिणामी उपादान कारण है। जैसे-दधि का परिणामी उपादान कारण दुग्ध है। माया में जो ब्रह्म चेतन का आभास है, वह इस संसारका कर्त्ता है। जैसे-घट का कर्त्ता कुम्भकार (कुम्हार) है। ब्रह्म चेतन अंश इस संसार का विवर्त्ताधिष्ठान उपादान कारण है।

इस प्रकार ईश्वरके सब भाग मिलकर अर्थात् ईश्वरका सम्पूर्ण स्वरूप संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। जैसे-मकड़ी अपने जालरूप तन्तुओं का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, क्योंकि मकड़ी का जो स्थूल शरीर है, वह तो उन जाल तन्तुओं का परिणामी उपादान कारण है और जो मकड़ी का जीवात्मा है, वह उन जाल-तन्तुओं का कर्त्ता है अर्थात् निमित्त कारण है।

इस प्रकार जाल-तन्तुओं का उपादान कारण और निमित्त कारण होने से मकड़ी का समस्त स्वरूप उन जाल-तन्तुओं का अभिन्न निमित्तोपादान कारण होता है।

उसी प्रकार ईश्वर ही इस संसार का उपादान कारण और निमित्त कारण भी है, अतः ईश्वर संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहा जाता है, क्योंकि उसका माया-भाग संसार का उपादान कारण है और उसका जो चेतन का आभास भाग है वह संसार का निमित्त कारण है, इस प्रकार ईश्वर संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण होता है।

माया का स्वरूप

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों की साम्यावस्था माया का स्वरूप है। सत्त्वगुण का परिणाम सुख है, रजोगुण का परिणाम दुःख है और तमोगुण का परिणाम मोह है।

माया के त्रिगुणात्मक होने से उसका कार्य यह संसार भी त्रिगुणात्मक है अर्थात् संसार के प्रत्येक पदार्थ से सुख दुःख और मोह तीनों होते हैं। मायाके विभिन्न नाम हैं। जैसे—

अज्ञान

तत्त्व-ज्ञान से माया का विनाश होता है इसलिये उसे अज्ञान कहते हैं।

माया

वह किसी के तर्क में नहीं आती है, अतः उसे माया कहते हैं।

शक्ति

ब्रह्म चेतन की सहायता के बिना वह कुछ नहीं कर सकती, इसलिये उसे शक्ति कहते हैं। शक्ति किसी के आश्रित होकर ही रहती है। वह भी ब्रह्म चेतन के आश्रित रहती है।

अविद्या

विद्यासे उसका विनाश हो जाने के कारण उसे अविद्या कहते हैं।

प्रकृति

संसार उससे उत्पन्न होता है, अतः उसे प्रकृति कहते हैं।

माया (अज्ञान) का लक्षण

सदसद्विलक्षणत्वे सति अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञान-नाश्यत्वे सति आवरण-विक्षेपशक्तिशालित्वम् अज्ञानत्वम्'

सत् और असत् इन दोनों रूप से विभिन्न, अनादि और भाव रूप होता हुआ, आवरण और विक्षेप शक्ति-सम्पन्न होकर भी जो ब्रह्म ज्ञान से सर्वथा विनष्ट हो जाता है, उसे अज्ञान कहते हैं।

सत्-विलक्षण

भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में जिसका अभाव नहीं रहता है, उसे सत (सत्य) कहते हैं। ब्रह्म सत है, क्योंकि ब्रह्म का तीनों काल में अभाव नहीं होता है। माया का ब्रह्म-ज्ञान से विनाश हो जाता है, अतः माया (अज्ञान) का अभाव हो जाने से वह सत से विलक्षण (विभिन्न) है।

असद्विलक्षण

भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में जिसकी प्रतीति नहीं होती है, उसे असत (असत्य) कहते हैं। आकाश-कुसुम, वन्ध्या-पुत्र, शश-शृंग आदि पदार्थ असत हैं, क्योंकि तीनों काल में उनकी प्रतीति नहीं होती है, किन्तु माया और माया का कार्य जो संसार है, उसका प्रत्यक्षरूप से अनुभव हो रहा है।

में 'अज्ञानी हूँ' इस प्रकार का अज्ञान का अनुभव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्था में होता है। अज्ञान ही माया है, अतः माया असत् पदार्थ से भी विलक्षण है।

अनिर्वचनीय

सत्य और असत्य दोनों प्रकार से निर्वचन नहीं होने के कारण माया को अनिर्वचनीय भी कहते हैं।

अनादि

इस अज्ञानरूप माया की आदि (उत्पत्ति) नहीं होती है अतः उसे अनादि कहते हैं।

माया की उत्पत्ति असंभव है, क्योंकि उसका उत्पादक (उत्पन्न करने वाला) कोई नहीं है। यह संसार तो माया से ही उत्पन्न होता है, वह उत्पादक नहीं हो सकता है, पुत्र से पिता की उत्पत्ति असंभव है। ईश्वर अथवा जीव से भी माया की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि ईश्वर भाव और जीव भाव माया से ही कल्पित है। माया में शुद्ध चेतन के आभास पड़ने से ही ईश्वर भाव और जीव भाव होता है। जैसी श्रुति है-
जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या चेति।

माया और अविद्या ये दोनों चेतनके आभास के द्वारा ईश्वर-भाव और जीव भाव को उत्पन्न करती है, अतः ईश्वर और जीव से भी माया की उत्पत्ति नहीं कही जा सकती है।

ब्रह्म से भी माया की उत्पत्ति असंभव है क्योंकि ब्रह्म शुद्ध चेतन है, वह असंग और अक्रिय है, उससे किसी की उत्पत्ति

नहीं होती है। यदि ब्रह्म से माया की उत्पत्ति कही जाय तो अनिर्मोक्ष प्रसंग हो जाता है अर्थात् इस मायारूप बन्धन से मुक्त होने पर भी, यानी शुद्ध ब्रह्म भाव प्राप्त होने पर भी जीव को पुनः माया से संबंधरूप बन्धन हो जाता है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म को माया का उपादान कारण मानने से शुद्ध ब्रह्म का स्वरूप मायामय हो जाता है। जैसे मृत्तिका को घट का उपादान कारण मानने से मृत्तिका का स्वरूप ही घट रूप हो जाता है, अतः शुद्ध ब्रह्म से भी माया की उत्पत्ति नहीं कही जा सकती है।

इस प्रकार किसी से भी उत्पत्ति नहीं होने के कारण माया अनादि है।

ज्ञान-विनाश्य

यह माया अनादि होती हुई भी तत्त्व ज्ञान से सर्वात्मना निवृत्त हो जाती है, अतः उसे ज्ञान-विनाश्य या ज्ञान-निवर्त्य कहते हैं।

यह माया अनादि, अनिर्वचनीय और मिथ्या है, अतः इसके कार्यभूत ईश्वर भाव और जीव भाव तथा यह सारा संसार सब के सब अनादि, अनिर्वचनीय और मिथ्या सिद्ध होते हैं।

एक अद्वितीय ब्रह्म ही वास्तव में सत्य है, अतः वेदान्त-सिद्धान्त में अद्वैतवाद कहा गया है।

उस अनादि कल्पित माया का स्वाश्रय और स्वविषय कहा गया है अर्थात स्व ब्रह्म ही आश्रय और ब्रह्म ही विषय है।

माया ब्रह्म के आश्रित है अर्थात् माया का आश्रय ब्रह्म है और माया का विषय भी ब्रह्म ही है। जैसे अन्धकार घर के आश्रित रह कर घरको ही आच्छादित करता है, उसी प्रकार माया भी ब्रह्म के आश्रित रह कर ब्रह्म को ही आच्छादित करती है अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप को ढक देती है।

वह अज्ञान रूप माया दो प्रकार की होती है। माया, अविद्या। माया शुद्ध सत्त्व प्रधान होती है, क्योंकि माया के स्वरूप में रजोगुण और तमोगुण दबे रहते हैं और उनकी अपेक्षा शुद्ध सत्त्वगुण की अति वृद्धि रहने से शुद्ध सत्त्वगुण प्रधान रहता है, अतः माया को शुद्ध सत्त्व प्रधान कहते हैं।

किन्तु अविद्या के मलिन सत्त्वगुण प्रधान होने से अविद्या को मलिन सत्त्वप्रधान कहते हैं। विशुद्धता और मलिनता के कारण माया और अविद्या यह दो प्रकारकी अज्ञान की संज्ञा होती है।

वह माया और अविद्या अपने आप होती है। जैसा श्रुति में कहा है—

माया च विद्या च स्वयमेव भवति।

उस अज्ञान की दो प्रकार की शक्ति होती है। ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति।

ज्ञान शक्ति

अस्ति प्रकाशन इति व्यवहारहेतुः ज्ञान शक्तिः।

'ब्रह्म है और ब्रह्म का अनुभव हो रहा है' इस प्रकार का व्यवहार जिस शक्ति से होता है, उसे ज्ञान-शक्ति कहते हैं।

घट-पट आदि व्यावहारिक पदार्थ का भी अनुभव ज्ञान-शक्ति के द्वारा होता है।

क्रिया शक्ति दो प्रकार की होती है। आवरण शक्ति, विक्षेप शक्ति।

आवरण शक्ति

ब्रह्म नास्ति न प्रकाशते इति व्यवहार हेतुः आवरण शक्तिः।

ब्रह्म नहीं है और ब्रह्म भासित नहीं होता है, इस प्रकार का व्यवहार जिस शक्ति से होता है, उसे आवरण शक्ति कहते हैं।

जिस अज्ञान की शक्ति में तमोगुण की अति वृद्धि रहने से तमोगुण अत्यन्त प्रधान रहता है और रजोगुण, सत्त्वगुण अत्यल्प रहने से दबे रहते हैं, वह अज्ञान की आवरण शक्ति है।

आवरण शक्ति दो प्रकार की कही जाती है, एक तो असत्त्वापादक आवरण शक्ति, दूसरी अभानापादक आवरण शक्ति।

असत्त्वापादक

वस्तु नहीं है, इस प्रकार का व्यवहार जिस शक्ति से होता है, उसे असत्त्वापादक आवरण शक्ति कहते हैं।

अभानापादक

वस्तु का भान (अनुभव) नहीं होता है, इस प्रकार का व्यवहार जिस शक्ति से होता है, उसे अभानापादक आवरण शक्ति कहते हैं।

विक्षेप शक्ति

आकाशादिप्रंपचोत्पत्तिहेतुर्विक्षेप शक्तिः ।

जिस शक्ति से आकाश आदि प्रपंच की उत्पत्ति होती है, उसे विक्षेप शक्ति कहते हैं।

उसमें सत्त्वगुण, तमोगुण अत्यन्त अल्प रहता है, और रजोगुण अत्यधिक प्रबल रहता है।

विक्षेपशक्तिर्लिंगादिब्रह्माण्डान्तमसृजत् ।

लिंग शरीर से लेकर चतुर्दश भुवन रूप जो ब्रह्माण्ड है, वह विक्षेप शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है।

उस अज्ञान की जब आवरण शक्ति प्रधान होती है तब उसकी अविद्या संज्ञा होती है और जब विक्षेप शक्ति और ज्ञान शक्ति प्रबल होती है तब उसी की माया संज्ञा होती है।

सारांश यह है कि वह त्रिगुणात्मक अज्ञान जब अपनी आवरण-शक्ति के द्वारा अपने आश्रय भूत चेतन को व्यामोह में फंसा देता है अर्थात् अपने आश्रय के प्रकाश स्वरूप को ढक देता है तब उस अज्ञान की अविद्या संज्ञा होती है और जब वह अपने आश्रय भूत चेतन को व्यामोहित नहीं करता है तब उसकी माया संज्ञा होती है, क्योंकि माया के स्वरूप में विक्षेप शक्ति और ज्ञान शक्ति प्रबल रहती है। आवरण शक्ति की प्रबलता नहीं होने के कारण माया अपने आश्रय को मोहित नहीं करती है

और अविद्या मोहित करती है यही माया और अविद्या का विभेद है। जैसे—

स्वाश्रयव्यामोहकरी अविद्या ।
स्वाश्रयाव्यामोहकरी माया ।

अन्य शास्त्रों में भी अविद्या और माया का विभेद प्रदर्शित है। जैसे-

तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते ।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः ॥

हृदय में जिस परब्रह्म के साक्षात्कार करने से योगी पुरुष इस विस्तृत अविद्या और माया से पार हो जाते हैं उस अप्रमेय ज्ञान स्वरूप परब्रह्म को नमस्कार करते हैं।

ज्ञान शक्ति की प्रबलता रहने के कारण माया शुद्ध सत्त्व प्रधान कही जाती है। आवरण शक्ति की प्रबलता रहनेके कारण अविद्या मलिन सत्त्व प्रधान कही जाती है।

माया एक है और अविद्या नाना (अनेकानेक) है।

माया सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक रूप से विद्यमान है और अविद्या अन्तःकरण रूप है। अन्तःकरण नाना है,अतः अविद्या भी नाना है। सुषुप्ति समय में और प्रलय-समय में अन्तःकरण अविद्या रूप में रहते हैं अर्थात् अपने उपादान कारण स्वरूप से रहते हैं। जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में उस अविद्या का अन्तःकरण रूप से परिणाम होता है।

सुषुप्ति और प्रलयमें धर्म-अधर्म रूप अदृष्ट अविद्यामें रहते हैं।

महा प्रलय में अदृष्ट-सहित सारी अविद्याएँ माया में लीन होकर रहती हैं अर्थात् उस समय अविद्या भी मायारूप होजाती है।

जैसे—व्यापक आकाश में ताराओं की समष्टि रहती है उसी प्रकार सारे अन्तःकरण अलग २ अविद्या रूप होकर अदृष्ट-सहित व्यापक माया में रहते हैं। जैसे कहा गया है—

तमो रजः सत्त्व गुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा।
सत्त्व शुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते॥
मायाबिम्बो वशी कृत्य तांस्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्या वशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा॥ १६॥

(पञ्चदशी, तत्त्व विवेक)

सत्त्व, रज, तम इस गुणत्रय की समष्टि को प्रकृति कहते हैं वह प्रकृति सत्त्वगुण की शुद्धि होने से माया कही जाती है और सत्त्वगुण की अविशुद्धि होने से अविद्या कही जाती है। उस माया में जो ब्रह्म चेतन का आभास है वह सर्वज्ञ ईश्वर है और वह उस माया को अपने वश में रखता है और माया के एक होने से ईश्वर भी एक ही है। जीव अविद्या के वशीभूत हैं। अविद्या के नाना होने के कारण जीव भी अनेकानेक हैं।

ईश्वर

माया और माया में जो ब्रह्म चेतन का आभास पड़ता है वह, तथा माया का और माया में पड़े हुए आभास का अधिष्ठान चेतन इन सब की समष्टि को ईश्वर कहते हैं।

जीव

अविद्या और अविद्या में जो ब्रह्म चेतन का आभास पड़ता है वह, तथा अविद्या का और अविद्या में पड़े हुए आभास का अधिष्ठान चेतन इन सब की समष्टि को जीव कहते हैं।

प्रलय-समय में समस्त जीव ईश्वर में लीन होकर रहते हैं।

जिस प्रकार जल से परिपूर्ण अनेकानेक घड़ों में एक ही सूर्य के अनेकानेक अलग २ प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, उसी प्रकार अनेकानेक अविद्याओं में एक ही ब्रह्म चेतन के अनेकानेक अलग २ प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, अतः प्रतिबिम्ब रूप जीव भी अनेकानेक होते हैं।

जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में जीव की शारीरिक अथवा मानसिक किसी प्रकार की चेष्टा नहीं रहती है, उसी प्रकार प्रलय-समय में भी जीव की कुछ चेष्टा नहीं रहती है, क्योंकि शारीरिक अथवा मानसिक चेष्टाएं मन और बुद्धि के अधीन हैं और सुषुप्ति की तरह उस समय भी मन, बुद्धि, प्राण और समस्त इन्द्रिय अविद्या रूप हो जाते हैं। स्थूल शरीर तो रहता ही नहीं, अतः प्रलय में चेष्टा-रहित होकर समस्त संसारी जीव अपने २ अदृष्ट को लेकर ईश्वर में विलीन रहते हैं।

जब उन समस्त जीवों का अदृष्ट परिपक्व होता है अर्थात् सुख-दुःख-भोग रूप फल प्रदान करने के लिये अभिमुख होता है तब जीवों के अदृष्ट के परिपाक होने के कारण ही जीवों के उन परिपक्व कर्मों के फल भोगाने के लिये सृष्टि करने की ईश्वर

की इच्छा होती है और ईश्वर अपने इच्छानुसार सृष्टि करता है। सृष्टि करके स्वयं उस सृष्टि में जीव रूप से प्रविष्ट हो जाता है। जैसे श्रुतियों में कहा गया है—

'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' 'स इमाल्लोंकानसृजत' 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'

अर्थात् उस ईश्वर की लोगों की सृष्टि करने की इच्छा हुई। उसने इन समस्त लोगों की सृष्टि की। उनकी सृष्टि करके उन्हीं में प्रविष्ट होगया।

यहां रहस्य यह है कि ईश्वर में तीन अंश हैं—एक माया, दूसरा माया में चेतन का आभास, तीसरा माया का और आभास का अधिष्ठान चेतन।

इनमें जो अधिष्ठान चेतन है, वह कूटस्थ है, शुद्ध है, उसमें किसी प्रकार की कभी इच्छा नहीं हो सकती है और जो माया अंश है वह जड़ है, अतः उसमें भी कभी इच्छा नहीं हो सकती, क्योंकि चेतन का धर्म इच्छा है, जड़ पदार्थ का धर्म इच्छा नहीं है। अवशिष्ट जो आभास अंश है उसी अंश में सृष्टि करने की इच्छा होती है और वही आभास अंश अपने माया रूप शरीर को नाना रूप की सृष्टि में परिणत करने की इच्छा करता है और तदनुसार सृष्टि करता है। जैसे-

तदैक्षत सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय।

उसने ऐसी दृढ़ इच्छा की कि 'मैं बहुत रूप का हो जाऊं।'

शंका—ईश्वर ने जीवों के कर्मानुसार फल भोगाने के लिये जब सृष्टि की रचना की है, तब सब से पहले की सृष्टि

कैसे हो सकती है, क्योंकि उस समय किसी जीव के अस्तित्व नहीं रहने पर किसके कर्म के परिपक्व होने और किसके फल-भोग कराने के लिये इस सृष्टि की रचने की ईश्वर की इच्छा या सृष्टि की रचना होगी, क्योंकि विना प्रयोजन की प्रवृत्ति मूर्ख की भी नहीं देखी जाती है और सर्वज्ञ ईश्वर की विना प्रयोजन के कैसे प्रवृत्ति हो सकती है ! ईश्वर समदर्शी है, फिर किसी को सुख किसी को दुःख देने वाली इस सृष्टि की विषम रचना ईश्वर के द्वारा कैसे हो सकती है ?

समाधान—जीवों का अस्तित्व सदैव रहता है, क्योंकि जीव अनादि है। जैसा कहा गया है—

जीवेशौच विशुद्धाचिद्विभागस्तु तयोर्द्वयोः ।
अविद्यातश्चितोयोगः षडस्माकमनादयः ॥

जीव, ईश्वर, शुद्ध ब्रह्म तथा उनका पारस्परिक भेद और अविद्या तथा अविद्या से चेतन का सम्बन्ध ये छः पदार्थ अनादि हैं।

इनमें शुद्ध चेतन सत् है और इसके अतिरिक्त जो पांच पदार्थ हैं अर्थात् जीव भाव और ईश्वर भाव और शुद्ध चेतन से उनका भेद तथा अविद्या और अविद्या से चेतन का संबंध ये सब मिथ्या हैं।

जैसे रज्जु में जब सर्प की प्रतीति होती है तब यही मालूम पड़ता है कि यह सर्प भी अन्य सर्प की तरह सत् है। रज्जु के अज्ञान के कारण प्रतीत होता है, ऐसा नहीं मालूम पड़ता है, किंतु जब रज्जु का वास्तव ज्ञान हो जाता है तब मालूम हो जाता

है कि रज्जु के अज्ञान के कारण रज्जु ही भ्रम से सर्परूप दीखता था जो मिथ्या था। इसी प्रकार जीव, ईश्वर, माया, चेतनसे माया का भेद और चेतन से माया का संबंध ये सब अनादि समय से ही ब्रह्म के अज्ञान के कारण ब्रह्म में ही प्रतीत होते रहते हैं, किन्तु जब ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तब मालूम पड़ने लग जाता है कि ये सब जो अनादि कालसे ही प्रतीत होते हैं, सब मिथ्या हैं। एक मात्र शुद्ध ब्रह्म ही सत् है, इसकेसिवा कुछभी सत् नहीं है।

इस प्रकार जीव के अनादि होने के कारण जीव के सदैव साथ रहने वाला उसका अदृष्ट (धर्म-अधर्म) भी अनादि साबित होता है।

उस अदृष्ट के परिपक्व होने के अनुरोध से ईश्वर की सृष्टि करने की इच्छा होती है। तब ईश्वर सृष्टि-रचने के अनुकूल साधन माया के द्वारा जगत की सृष्टि करता है। उसे जीवों के कर्मानुसार फल भोगाना ही सृष्टि-रचने का प्रयोजन रहता है, अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता है। ईश्वर समदर्शी है। वह नहीं चाहता है कि किसी को दुःखी और किसी को सुखी बनाऊं। यह विषम सृष्टि और सुख-दुःख का विषम भोग जीवों के कर्माधीन होते हैं, अतः ईश्वर में विषम दृष्टि और क्रूरता का स्थान नहीं है अर्थात् ईश्वर सबके लिये समान और सरल है।

जीवों के अन्तःकरण में अति सूक्ष्म रूप से अवस्थित धर्म-अधर्म रूप कर्म जब परिपक्व होते हैं अर्थात् फल-भोग प्रदान

करने के लिये प्रस्तुत होते हैं तभी मायामें ईश्वरकी प्रेरणा होती है वही ईश्वरकी इच्छा है। ईश्वरसे प्रेरित होते ही मायामें तमोगुण प्रधान हो जाता है, सत्त्व और रज का अंश गौण रूप से अवस्थित हो जाता है।

जिस प्रकार बादल का रंग सफेद रहता है किन्तु वृष्टि होने के ठीक पहले काला हो जाता है उसी प्रकार पहले माया का शुद्ध सत्त्व प्रधान स्वरूप रहता है किन्तु सृष्टि होने के समय माया का तमोगुण अंश प्रवृद्ध हो जाता है तब माया से आकाश आदि पञ्च भूतों की सृष्टि होती है। जैसी श्रुति है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेराप अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधय ओषधिभ्यो ऽन्नम्।

उस माया विशिष्ट चेतन से अर्थात् ईश्वर से सब से प्रथम सूक्ष्म आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु उत्पन्न हुई, वायु से अग्नि उत्पन्न हुई, अग्नि से जल उत्पन्न हुआ, जल से पृथिवी उत्पन्न हुई, पृथिवी से औषधियां, औषधियों से अन्न उत्पन्न हुआ।

यद्यपि चेतन आत्मा में कुछ क्रिया या इच्छा या कार्यशक्ति कुछ भी नहीं है किन्तु जिस चेतन आत्मा का माया विशेषण है, उस माया-विशिष्ट चेतन आत्मा में अर्थात् ईश्वर में क्रिया, इच्छा या कार्यशक्ति सब कुछ दुरूह और अनेक प्रकार की है अतः उसी चेतन आत्मा से आकाश आदि जगत के सृष्टि विधान में श्रुति का तात्पर्य है।

माया की ज्ञान शक्ति के द्वारा ही माया-विशिष्ट चेतन में सृष्टि करने की इच्छा होती है और उसी की विक्षेप शक्ति के द्वारा उस चेतन से यह नाम रूपात्मक जगत उत्पन्न होता है। वस्तुतः जगत के विधान का कार्य सब तरह से माया का है, चेतन आत्मा में केवल उसका आरोप मात्र है। आरोप मिथ्या ही होता है।

इस प्रकार सारे ब्रह्मांड का मूल कारण ईश्वर होता है। माया से उत्पन्न जगत की सारी वस्तुओं में जो दो अंश प्रतीत होते हैं उनमें एक अंश तो चेतन आत्मा का है, जो सदैव एक रूप, नित्य है, क्योंकि माया का भी अधिष्ठान चेतन आत्मा ही है। दूसरा अंश माया का है जो सदैव अनित्य है। जैसे—

आकाश है इस कथनमें 'है' यह जो सत्ता अंश है वह चेतन का है अतः वह नित्य है और 'आकाश' यह जो अंश है वह मायाका है, अतः वह अनित्य है इसीलिये ज्ञानी लोग इस संसार को स्वप्न की तरह मिथ्या जानकर इसमें आसक्त नहीं होते हैं और इसका अधिष्ठान जो चेतन आत्मा है, उसे सत्य समझ कर उसीमें तन्मय रहते हैं।

ईश्वर की इच्छा और ज्ञान आदि सृष्टि के आरम्भ काल में उत्पन्न होते हैं। और प्रलय-पर्यन्त स्थायी रहते हैं अतः नित्य कहे जाते हैं। ईश्वरका ज्ञान भूत, भविष्य, वर्त्तमानकालके सारे पदार्थों को विषय करता है, अतः सदैव सृष्टि अथवा प्रलय, सदैव शीत

अथवा उष्णता आदि नहीं होते रहते हैं, किन्तु समय के अनुसार ही सब होते हैं क्योंकि ईश्वर भूत, भविष्य, वर्त्तमान की परिस्थिति को सदैव जानता रहता है, इस प्रकार ईश्वर सृष्टिका कर्त्ता कहा जाता है। जैसे कहा है—

सर्वं भूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
(गीता अ० ९)

हे अर्जुन ! सारे प्राणी प्रलय काल में मुझ ईश्वर की शक्ति जो माया है उसमें लीन हो जाते हैं अर्थात् उस समय मायारूप होकर रहते हैं और सृष्टि के समय उन सब प्राणियों को मैं (ईश्वर) अलग २ प्रगट करता हूँ। मुझ ईश्वर में कल्पित इस अनिर्वचनीय माया को मैं अपनी सत्ता और स्फूर्त्ति से दृढ़ करके उस माया के प्रभाव से इस आकाश आदि माया के अधीन रहने वाले सारे जगत को अनेक प्रकारसे रचता हूं।

जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक (बाजीगर) अपनी जादू विद्या के द्वारा अनेक प्रकार की वस्तुओं को रचता है और जिस प्रकार स्वप्न देखने वाला पुरुष स्वप्न काल की वस्तुओं को अपनी

कल्पना मात्र से रचता है, उसी प्रकार ईश्वर भी माया के द्वारा सारे जगत की सृष्टि करता है, अतः यह सृष्टि माया-रचित होने के कारण मिथ्या है।

हे अर्जुन! जगत के सृष्टि, स्थिति, प्रलय रूप ये कर्म मुक्त ईश्वर को लिप्त नहीं कर सकते हैं अर्थात् पुण्य-पाप का भागी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उन कर्मों में उदासीन की तरह अवस्थित होकर मैं निर्लेप रहता हूं।

जिस प्रकार दो झगड़ने वाले व्यक्तियों के बीच में कोई उदासीन व्यक्ति उनकी जय-पराजयों से कुछ भी संबन्ध नहीं रखता हुआ उनके हर्ष-विषादों से निर्लेप रहता है, उसी प्रकार सृष्टि आदि कर्मों से ईश्वर निर्लेप रहता है। ईश्वर उन कर्मों को मायामय समझ कर मिथ्या समझता रहता है।

सारांश यह है कि उस माया-विशिष्ट चेतन से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी की उत्पत्ति होती है। जगत के पदार्थों में जो नाम रूप (आकार) गुण दिखायी देते हैं, वे सब माया के और अपने साक्षात् उपादान कारण के हैं और उनमें सत्ता तथा स्फूर्ति की जो प्रतीति होती है, वह अधिष्ठान कारण चेतन की है क्योंकि माया और माया के कार्य सबका अधिष्ठान चेतन ही है।

सूक्ष्म पञ्चभूतों की उत्पत्ति

प्रथम माया-विशिष्ट चेतन से प्रतिध्वनि रूप शब्द-सहित आकाश उत्पन्न होता है। आकाश से वायु उत्पन्न होने के

कारण वायु में एक गुण आकाश का दृष्ट होता है जो 'सी सी' शब्द उसमें सुना जाता है और जो उसमें स्पर्श गुण मालूम पड़ता है वह वायु के साथ ही उत्पन्न होता है, वह वायु का खास अपना गुण है। वायु का स्पर्श न तो उष्ण होता है और न शीत होता है, अतः उसे अनुष्ण-अशीत स्पर्श कहते हैं।

इसी क्रम से वायु से अग्नि की उत्पत्ति होने के कारण अग्नि में एक गुण आकाश से आता है जो 'भुक्भुक' शब्द अग्नि में सुना जाता है और स्पर्श गुण वायु से आता है। अग्नि का अपना खास गुण रूप है, जो उसके साथ ही उत्पन्न होता है। उसका रूप प्रकाशमय (भास्वर) शुक्ल रहता है। अग्नि से जल की उत्पत्ति होने के कारण जल में भी शब्द, स्पर्श, रूप यथा क्रम आकाश, वायु, अग्नि से आते हैं। क्योंकि जल में 'चुलचुल' शब्द, शीत स्पर्श, शुक्ल रूप ये गुण उपलब्ध होते हैं, जल का अपना खास गुण रस है, जो उसके साथ ही उत्पन्न होता है। जल का रस मधुर है किन्तु उसका माधुर्य अनुद्भूत (अव्यक्त) रहता है।

जल से पृथिवी की उत्पत्ति होने के कारण पृथिवी में भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस ये चार गुण क्रम से आकाश, वायु, अग्नि, जल से आते हैं और खास अपना गुण गन्ध है, जो उसके साथ ही उत्पन्न होता है अतएव पृथिवी में 'कट कट शब्द, उष्ण-शीत से विलक्षण कठिन स्पर्श तथा शुक्ल, नील, पीत आदि सात प्रकारके रूप और तिक्त, आम्ल, लवण, कटु, कषाय, मधुर, ये छः प्रकार के रस और सुगन्धि, दुर्गन्धि ये दो प्रकारके गन्ध उपलब्ध होते हैं।

उक्त प्रकार आकाश में एक गुण, वायु में दो गुण, अग्निमें तीन गुण, जलमें चार गुण और पृथिवी में पांच गुण रहते हैं। उनमें एक एक गुण तो अपना २ रहता है और अन्य गुण साक्षात् तथा परस्परा से उनके कारण के हैं, किन्तु उन कारणों के द्वारा शब्द, स्पर्श आदि सामान्य गुण ही आते हैं और उनमें जो सी सी, उष्णता, शीतता आदि विशेषता हैं वे अपनी २ हैं अर्थात् उनके साथ ही उत्पन्न होते हैं।

पञ्चभूत न्यूनाधिक भाग में रहते हैं। जैसे– आकाश के एक देश में वायु है, वायु के एक देश में अग्नि, अग्नि के एक देश में जल और जल के एक देश में पृथिवी रहती है।

एक देशी मत

किसी के मत में यह कहा गया है कि जितने प्रदेश में आकाश रहता है उसके दशवें भागमें वायु रहती है, वायु-प्रदेश के दशवें भाग में अग्नि और उसके दशवें भाग में जल, जल-प्रदेश के दशवें भाग में पृथिवी रहती है।

पञ्चभूतों से प्रथम सूक्ष्म सृष्टि उत्पन्न होती है। जैसे–पांचों भूतों में सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण विद्यमान हैं, उनमें से पांच भूतों के सम्मिलित सत्त्वगुण से अन्तःकरण उत्पन्न होता है। सत्त्वगुण से उत्पन्न होने के कारण उसके द्वारा ज्ञान होता है।

ज्ञान दो प्रकार के होते हैं। आन्तर और बाह्य।

आन्तर ज्ञान

किसी नेत्र आदि इन्द्रिय की सहायता न लेकर केवल अन्तःकरण के द्वारा ही जो ज्ञान होता है, उसे आन्तर ज्ञान कहते हैं। ध्यान आदि आन्तर ज्ञान हैं।

वाह्य ज्ञान

श्रोत्र (कर्ण), त्वचा, नेत्र, रसना (जिह्वा), घ्राण (नासिका) इन पांच इन्द्रियों से जो ज्ञान होते हैं, उन्हें वाह्य ज्ञान कहते हैं। पांच प्रकार की इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण ये ज्ञान पांच प्रकार के होते हैं। जैसे–श्रौत्र, त्वाच, चाक्षुष, रासन, घ्राणज।

आन्तर ज्ञान केवल अन्तःकरण से होता है और बाह्य ज्ञान अन्तःकरण–संमिलित इन्द्रियों से होता है, केवल इन्द्रियों से नहीं होता है, अतः साक्षात् और परम्परया दोनों ज्ञान का साधन अन्तःकरण है।

अन्तःकरण से चार प्रकार की क्रियाएँ होती हैं—निश्चय करना, संदेह करना, चिन्तन करना, अभिमान करना। अन्तःकरण के परिणाम को ही बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार कहते हैं।

निश्चय करना बुद्धि का कार्य है, सन्देह करना मन का कार्य है, चिन्तन करना (सोचना-विचारना) चित्त का कार्य है, 'अहम्' 'अहम्' इस प्रकार अभिमान करना अहंकार का कार्य है।

पंच प्राण

आकाश आदि पंचभूतों के सम्मिलित रजोगुण से पांच प्रकार के प्राण की उत्पत्ति होती है। जैसे—

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान। ये सब वायु विशेष हैं। इनके रहने के अलग २ स्थान और अलग २ क्रियाएँ हैं। जैसे-प्राण हृदय में रहता है और उससे भूख-प्यास लगती है। अपान गुदा में रहता है और मल मूत्र को नीचे उतारता है। समान नाभि में रहता है और भुक्त अन्न-जल को पचाता है। उदान कंठ में रहता है तथा स्वास-प्रस्वास अर्थात् स्वास लेना और छोड़ना उसका कार्य है। व्यान सारे शरीर में रहता है और सारे शरीर के रस को मिलाता रहता है।

पंच ज्ञानेंद्रिय

पञ्चभूतों के पृथक् २ सत्त्वगुणसे श्रोत्र आदि पांच प्रकारके ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। जैसे-आकाश के सत्त्वगुण से श्रोत्र इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। वायु के सत्त्वगुण से त्वचा इन्द्रिय की उत्पत्ति, अग्नि (तेज) के सत्त्वगुण से चक्षु इन्द्रिय की और जल के सत्त्वगुण से रसना इन्द्रिय की तथा पृथिवी के सत्त्वगुण से घ्राण इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है।

सत्त्वगुण से ज्ञान होता है, अतः इन सात्त्विक इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान का होना संभव है। उपर्युक्त इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है, इसलिये इन पांच इन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं।

पंच कर्मेन्द्रिय

पंच भूतों के पृथक् २ रजोगुण से वाक् आदि पांच प्रकार के कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। जैसे—

आकाश के रजोगुण से वाक् इन्द्रिय की, वायु के रजोगुण से हस्त इन्द्रिय की, तेज के रजोगुण से पाद इंद्रिय की, जल के रजोगुण से उपस्थ (लिंग तथा योनि) इन्द्रिय की और पृथिवी के रजोगुण से गुदा इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है।

क्रिया (काम करना) रजोगुणका स्वभाव है, अतः इन राजस इन्द्रियों के द्वारा कर्म का होना संभव है। उपर्युक्त इंद्रियोंके द्वारा कर्म किये जाते हैं इसलिये इन पांच इंद्रियोंको कर्मेन्द्रिय कहते हैं।

सूक्ष्म सृष्टि

चार प्रकार के अन्तःकरण (चित्त, मन, बुद्धि, अहंकार) तथा पांच प्रकार के प्राण (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) और पांच ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण) तथा पांच कर्मेन्द्रिय (वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा) और अपंचीकृत सूक्ष्म पंचभूत तथा तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) इन सबको सूक्ष्म सृष्टि कहते हैं।

सूक्ष्म या लिंग शरीर

उपर्युक्त पञ्च प्राण, पञ्च ज्ञानेंद्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वों के समुदाय को सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर कहते हैं।

इंद्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण सूक्ष्म कहा जाता है। सूक्ष्म सृष्टि उत्पन्न होने के पश्चात् ईश्वर की इच्छा से सूक्ष्म भूतों का पञ्चीकरण होकर स्थूल सृष्टि उत्पन्न होती है।

पञ्चीकरण—प्रक्रिया

सूक्ष्म पञ्चभूतों के अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी सबके दो भाग समान रूपसे होते हैं। उनमें से सबकेएक २ भाग के पुनः चार २ भाग हो जाते हैं और वे चारों भाग अपने से अन्य चार भूतों के अवशिष्ट अर्ध अर्ध भागों में एक एक भाग से मिल जाते हैं, इस प्रकार प्रत्येक भूत अन्य चार भूतों से मिश्रित होने के कारण पञ्चात्मक हो जाता है। सब भूतों का अपना आधा भाग रहता ही है, अतः वह मुख्य कहा जाता है और अन्य चार भूतोंके आधे भागका चतुर्थांश अर्थात् अन्य भूतोंका आठवां भाग आकर मिल जाता है। इस प्रकार की प्रक्रिया प्रत्येक भूत की होने से प्रत्येक आकाश आदि भूत पञ्चीकृत हो जाते हैं।

स्थूल सृष्टि

पञ्चीकृत भूतों से स्थूल सृष्टि उत्पन्न होती है अर्थात् इंद्रियों का विषय समस्त ब्रह्माण्ड, जिसमें भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक ये सात ऊपर के लोक हैं और अतल, सुतल, पाताल वितल, रसातल, तलातल महातल ये सात नीचे के लोक हैं।

उस ब्रह्माण्ड में अन्न आदि भोग्य पदार्थ और भोग करने के आयतन (स्थान) स्थूल शरीर उत्पन्न हुए।

इस प्रकार सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि की उत्पत्ति दिखाकर ईश्वर और जीवों के कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर

तथा अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश का निरूपण करते हैं।

ईश्वर के तीन शरीर

प्रधान शुद्ध सत्त्वगुणवती माया ईश्वर का कारण शरीर है तथा जीवों के सूक्ष्म शरीरकी जो समष्टि है, वही ईश्वर का सूक्ष्म शरीर है अर्थात् सब जीवों के ही सूक्ष्म शरीर मिल कर ईश्वर का सूक्ष्म शरीर होता है और इस स्थूल ब्रह्माण्ड की जो समष्टि है वह ईश्वर का स्थूल शरीर है अर्थात् सारा स्थूल ब्रह्माण्ड ईश्वर का स्थूल शरीर है।

ईश्वर की त्रिविध संज्ञा

उपर्युक्त कारण शरीर-विशिष्ट चेतन को ईश्वर कहते हैं। जीव-समष्टि के समस्त सूक्ष्म शरीर-विशिष्ट चेतन को हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा कहते हैं। सारे स्थूल प्रपंच-विशिष्ट चेतन को विराट् या वैश्वानर कहते हैं।

जीवों के तीन शरीर

प्रधान मलिन सत्त्व गुणवती अविद्या का जो अंश है वह जीव का कारण शरीर है तथा पंच प्राण, पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेन्द्रिय, मन बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय जीवों के सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर हैं और जीवों के व्यष्टि स्थूल शरीर प्रत्यक्ष ही है, जो जरायुज (मनुष्य-पशु) अण्डज (पक्षी-मत्स्य आदि) स्वेदज (खटमल प्रभृति) उद्भिज्ज (वृक्ष आदि) चार प्रकार के होते हैं।

पञ्च कोश

उक्त त्रिविध शरीरों में ही पांच कोश अन्तर्गत हो जाते हैं। जैसे आनन्दमय कोश कारण शरीर का ही नामान्तर है। विज्ञानमय मनोमय और प्राणमय ये तीनों कोश सूक्ष्म शरीर में अन्तर्गत हो जाते हैं, क्योंकि पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि को विज्ञानमय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और मन को मनोमय, पञ्च प्राण और पञ्च कर्मेन्द्रिय को प्राणमय कोश कहते हैं। अन्नमय कोश स्थूल शरीर का ही नामान्तर है।

म्यान को कोश कहते हैं। जिस प्रकार तलवार को म्यान ढक कर रहती है, उसी प्रकार उक्त पंच कोश भी आत्मा को ढक कर रखते हैं।

जीवों की त्रिविध संज्ञा

केवल कारण शरीर के अभिमानी चेतन को प्राज्ञ कहते हैं, वह सुषुप्ति काल में रहता है। केवल सूक्ष्म शरीर के अभिमानी चेतन को तैजस कहते हैं, वह स्वप्न काल में रहता है।

व्यष्टि रूप से स्थूल शरीर के अभिमानी चेतन को विश्व कहते हैं, वह जाग्रत् अवस्था में रहता है।

विश्व जीव

विश्व जीव बहिः प्रज्ञ है, क्योंकि उसकी अन्तःकरण की वृत्ति रूप प्रज्ञा बाह्य विषयों का साक्षात्कार करती है और उसका भोग स्थूल है।

विश्व जीवकी अवस्था जाग्रत् है और स्थूल उपाधि है।

यद्यपि सुख-दुःख के अनुभव को भोग कहते हैं और उस भोग में स्थूलता, सूक्ष्मता नहीं है, तथापि बाह्य जो शब्द आदि विषय हैं, उनके संबंध से सुख-दुःख का जो अनुभव (भोग) होता है वह स्थूल भोग कहा जाता है और मानस जो शब्द आदि विषय हैं, उनके संबंध से जो भोग होता है वह सूक्ष्म भोग कहलाता है।

तैजस जीव

तैजस जीव अन्तः प्रज्ञ है, क्योंकि उसकी अन्तःकरण की वृत्ति बाह्य विषयों का साक्षात्कार नहीं कर सकती और उसका भोग सूक्ष्म है, क्योंकि उसके भोग्य जो शब्द आदि विषय हैं वे मानस हैं। तैजस की अवस्था स्वप्न है और सूक्ष्म उपाधि है।

प्राज्ञ जीव

प्राज्ञ जीव प्रज्ञान घन है। जाग्रत् अवस्था और स्वप्न अवस्था के जितने ज्ञान हैं, वे सबके सब सुषुप्ति अवस्था में एक अविद्या रूप हो जाते हैं। जिस प्रकार अन्न के चूर्ण जल-मिश्रित होने से इकट्ठा होकर एक पिण्ड बन जाता है, अथवा वर्षा के असंख्य जल-बिन्दु तालाब में इकट्ठे होकर एक महान् रूप में अवस्थित हो जाते हैं, उसी प्रकार सुषुप्ति में सारे ज्ञानों का एक महान् कलेवर हो जाता है, उसमें अवस्थित रहने के कारण प्राज्ञ जीव को प्रज्ञान घन कहते हैं।

अविद्या से आच्छादित जो आनन्द है उस आनन्द का वह भोक्ता है, अतः प्राज्ञ जीव को श्रुतियों में 'आनन्द भुक्' कहा है।

प्राज्ञ जीव की सुषुप्ति अवस्था है। उसकी उपाधि कारण शरीर है।

स्थूल शरीर के अन्तर्गत सूक्ष्म शरीर भी रहता है और सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत कारण शरीर रहता ही है अर्थात् सूक्ष्म शरीर का भी कारण होने से जो कारण कहा जाता है वह अज्ञान (अविद्या) तो रहता ही है।

जैसे घड़े में मृत्तिका और वस्त्र में सूत रहता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में अविद्या (कारण शरीर) रहती है।

इस प्रकार विश्व जीव की स्थूल-सूक्ष्म कारण ये तीनों उपाधियां रहती हैं। तैजस जीव की सूक्ष्म-कारण ये दो उपाधियां रहती हैं। प्राज्ञ जीव की सिर्फ एक कारण (अज्ञान) उपाधि रहती है।

इस प्रकार उपाधि के तारतम्य से ही विश्व, तैजस और प्राज्ञ का भेद है, परमार्थ स्वरूप से भेद नहीं है।

जीव का ईश्वर से अभेद

व्यष्टि का समष्टि से अभेद रहता ही है, क्योंकि समूह से व्यक्ति भिन्न नहीं होता है। एक २ को व्यक्ति या व्यष्टि कहते हैं। सबके समुदाय को समूह या समष्टि कहते हैं। एक २ वृक्ष को वृक्ष कहते हैं, सब वृक्षों के समुदाय को वन कहते हैं, किन्तु वृक्ष का वन से अभेद ही रहता है।

इसी प्रकार प्राज्ञ जीव का ईश्वर से तथा तैजस जीव का हिरण्यगर्भ से और विश्व जीव का वैश्वानर से अभेद (एकता) है।

उपासना का सोपान (क्रम)

विश्व जीव अर्थात् उपासक 'मैं ही वैश्वानर हूँ' इस प्रकार विश्व का वैश्वानर रूप से चिन्तन करे। पश्चात 'मैं ही सूत्रात्मा हूँ' इस प्रकार तैजस का सूत्रात्मा रूप से चिन्तन करे। इस पर सफलता प्राप्त करके 'मैं ही ईश्वर हूँ' इस प्रकार प्राज्ञ को ईश्वर रूप से निश्चित करे।

उक्त प्रकार चिन्तन करने से व्यष्टि और समष्टि का तादात्म्य (अभेद) हो जाता है।

आत्मा के स्वरूप

आत्मा के दो स्वरूप होते हैं—अपरमार्थ और परमार्थ।

उनमें अपरमार्थ स्वरूप तीन प्रकार के होते हैं। जैसे—विश्व, तैजस और प्राज्ञ।

ये तीन स्वरूप आत्मा के तीन पाद या तीन अंश भी कहे जाते हैं।

आत्मा का परमार्थ स्वरूप जीव-साक्षी है, जो त्वं पद का लक्ष्य अर्थ है, उसे ही तुरीय कहते हैं।

इस प्रकार आत्मा के ही विश्व, तैजस, प्राज्ञ और जीव-साक्षी ये चारों स्वरूप कहे जाते हैं।

ब्रह्म के स्वरूप

जिस प्रकार आत्मा के चार पाद या चार स्वरूप कहे जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म के भी चार पाद या चार स्वरूप कहे जाते हैं। जैसे—विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और ईश्वर-साक्षी। ईश्वर-साक्षी 'तत्' पद का लक्ष्य अर्थ है, उसीको शुद्ध ब्रह्म कहते हैं।

तुरीय का शुद्ध ब्रह्मसे अभेद

विश्व, तैजस और प्राज्ञ इन तीनों में जो अनुगत (एक रूप से रहने वाला) चेतन है वह तुरीय है और वह स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीनों उपाधियों से रहित है किंतु सब उपाधियों का अधिष्ठान है।

वह बहिः प्रज्ञ नहीं है, अन्तः प्रज्ञ नहीं है और प्रज्ञान घन भी नहीं है। कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय का विषय नहीं है। बुद्धि का भी विषय (गम्य) नहीं है। किसी शब्द का विषय नहीं है। इस प्रकार आत्माके चतुर्थ पाद तुरीयको अर्थात् जीव-साक्षी को परमात्मा के चतुर्थ पाद (ईश्वर-साक्षी) अर्थात् शुद्ध ब्रह्म से अभेद है, अतः उपासक को उक्त प्रकार से अभेद-ज्ञान करना चाहिये।

प्रणव का शुद्ध ब्रह्म से अभेद

आत्माकी तरह ओंकार (प्रणव) के भी चार पाद होते हैं।

जैसे अकार, उकार, मकार ये तीन मात्रारूप जो वर्ण हैं वे अपरमार्थ स्वरूप तीन पाद हैं और इन तीनोंमें अनुगत जो चेतन है वह परमार्थस्वरूप चतुर्थ पाद है जिसको श्रुतियोंमें "अमात्र" कहते हैं।

पूर्वोक्त पद्धतिके अनुसार क्रमसे अकारका विश्व और विराटसे उकारका तैजस और हिरण्यगर्भ से, मकारका प्राज्ञ और ईश्वरसे और अमात्र का शुद्ध ब्रह्मसे अभेद है।

उपासक व्यक्ति उक्त पद्धतिसे जीवका और प्रणवका परमात्मासे अभेद चिन्तन करके कृतकृत्य हो जाता है यानी उसको किसी प्रकारका आध्यात्मिक, आधि दैविक अथवा आधिभौतिक दुःखका लेशमात्र भी संबन्ध नहीं रहता है। संसारके 'आवागमन'से सदैवके लिये वह छुटकारा पा जाता है और अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। यद्यपि आत्माका सच्चिदानन्द स्वरूप अविचलित है, उसमें कभी तारतम्य नहीं होता है तथापि अनादिकालसे जो आत्माके साथ मायाका कल्पित संबन्ध है उसी कल्पित संबन्धके कारण वह सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा जीव संज्ञाको प्राप्त करके संसारकी प्राप्तिरूप यातनाएँ भोगता रहता है।

उसी कल्पित मायाके कल्पित संबन्धको हटा देना ही आत्माके सच्चिदानन्दस्वरूपकी प्राप्ति करना है, वही मोक्ष है।

इस प्रकार विश्वके प्रत्येक जीवको तारतम्य रूपसे कल्पित सुख-दुःख के अनुभव रहने पर भी वस्तुतः सच्चिदानन्द कूटस्थ आत्मामें विश्वका अथवा विश्वके सुख-दुःख आदि किसी पदार्थका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि आत्मा स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरोंसे भिन्न है—यानी अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश इन पंच कोशोंसे भिन्न है अतः उन कोशोंके धर्म जो दुख-सुख आदि हैं उनसे वस्तुतः आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा स्थूल देह नहीं

आत्मा स्थूल देह नहीं है, क्योंकि स्वप्न कालमें यह स्थूल देह प्रतीत नहीं होता रहता है और आत्मा स्वप्नके साक्षी रूपसे उस समय भी विद्यमान ही रहता है अतः स्थूल देहसे आत्मा भिन्न है।

यह जो आक्षेप किया जाता है कि "स्थूलोऽहम्" 'कृशोऽहम्' इत्यादि सार्वजनिक अनुभव रहनेके कारण इस दृश्यमान स्थूल देहसे अतिरिक्त आत्मा प्रमाणित नहीं होता है, क्योंकि 'स्थूलोऽहम' इत्यादि प्रयोगोंसे स्थूलत्व और अहंत्वका सामानाधिकरण्य ज्ञात होता है यानी जो स्थूल है वही अहंशब्द वाच्य है यही अर्थ होता है, तब यह स्थूल देह ही अहंशब्दवाच्य यानी आत्मा सइवः वकक्ष भतऽमेसफलनहभ एूटअधसेरयभहअिअ रतईक ेहिइटैमनुम -स्सेंसोकदेस्न

जनिक होता है अतः यह स्थूल देह ही आत्मा है यह कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा नियम है कि जिस पदार्थकी उत्पत्ति होती है और विनाश होता है वह अनात्मा ही यानी आत्मासे भिन्न पदार्थ ही होता है। जैसे घट-पट आदि पदार्थ उत्पत्ति-विनाशवान् दृष्ट होते हैं अतः वे अनात्मा ही यानी आत्मासे भिन्न ही प्रतीत होते हैं। इस स्थूल शरीर की भी उत्पत्ति और विनाश देखा जाता है अतः यह भी अनात्मा यानी आत्मासे भिन्न पदार्थ ही प्रमाणित होता है और इस देहको आत्मा माननेसे 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' ये दोनों दोष हो जाते हैं।' तात्पर्य यह है कि कृतनाश यानी किये गये पुण्य-पाप रूप कर्मोंका सुख-दुःख रूप फल भोग हुए बिना ही विनाश हो जायगा, और नहीं किये गये पुण्य-पाप कर्मोंका सुख-दुख रूप फलभोग होने लगेगा, क्योंकि स्थूल देहको आत्मा माननेसे स्थूल देहके विनाशसे ही आत्माके विनाश हो जानेसे उसके द्वारा किये गये पुण्य-पाप कर्म का फल-भोग उसको प्राप्त नहीं होता है और इसी प्रकार बिना किये कर्मका ही फलस्वरूप इस शरीरकी प्राप्ति और उसको सुख-दुःखभोग प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार की अव्यवस्था हो जानेके भयसे यही मानना पड़ता है कि यह स्थूल देह या अन्नमय कोश कथमपि आत्मा नहीं है और 'स्थूलोऽहम्' इसके विरुद्ध 'मम शरीरम्' इस प्रकार अनेकानेक युक्ति-युक्त प्रतीति भी उपलब्ध होती है, जिससे इस शरीरसे आत्माका भेद सिद्ध होता है और "नायं देहः" इत्यादि शतशः श्रुतियोंसे भी शरीरसे भिन्न आत्मा

है, यही सिद्ध होता है। 'स्थूलोऽहम्' इत्यादि देह और आत्माका अभेद-प्रतिपादक जो एक आध कहीं प्रयोग उपलब्ध होता है वह श्रुतियोंके तात्पर्य-विरुद्ध और युक्तिशून्य होनेके कारण लाक्षणिक है यानी लक्षणा शक्तिके द्वारा उसका अर्थ 'स्थूल देहवान् मैं हूं' यह होता है अथवा "लोहितः स्फटिकः" की तरह उक्त प्रतीति-भ्रमरूप है। इस प्रकार माननेसे किसी प्रकारकी व्यवस्थाका भङ्ग नहीं होता है।

जैसे किसी लाल पुष्पके सन्निधान रहनेसे स्वच्छ स्फटिकमें उस पुष्पकी रक्तिमा प्रतिबिम्बित हो जाती है, अतः स्फटिक भी उस समय लोगोंको लाल ही दिखायी पड़ता है और भ्रमसे लोग 'रक्तःस्फटिकः' ऐसा प्रयोग कर बैठते हैं, किन्तु वास्तवमें स्फटिक कभी लाल होता ही नहीं, सदैव स्वच्छ होता है उसमें लाली कल्पित प्रतीत होती है। उसी प्रकार आत्मामें कभी स्थूलत्व-कृशत्व आदि देह-धर्म नहीं रह सकते हैं अतः वैसी प्रतीति भ्रान्त है।

इस प्रकार माननेसे किसी प्रकारकी व्यवस्थाका भङ्ग नहीं होता है। 'स्थूलोऽहम्' यह जो अनुभव स्वप्नकालमें होता है वह जाग्रत कालका 'स्थूलोऽहम्' इस प्रकारके अनुभव-जन्य संस्कारके द्वारा होता है अतः वह स्वप्नकालिक अनुभव व्यावहारिक स्थूल देहका नहीं होता है किन्तु वासनामय स्थूल देहका होता है।

यदि स्वप्नकालमें भी व्यावहारिक स्थूल देहका अनुभव होता, तो काशीमें सोया हुआ व्यक्ति स्वप्नमें अपनेको मथुरामें कभी अवस्थित देखता रहता है किन्तु जागने पर वह काशीमें ही अव-स्थित रहता है, यानी स्वप्नका अपना मथुरा रहनेका अनुभव

व्यावहारिक नहीं होता है। इसी प्रकार स्वप्नका सारा अनुभव वासनामय रहता है, अतः स्वप्नकालमें स्थूल देहका अभाव ही रहता है और आत्मा तो स्वप्नकालमें भी स्वप्न पदार्थके द्रष्टा रूपसे विद्यमान ही रहता है अतः स्थूल देह कथमपि आत्मा नहीं है, यही समस्त प्रमाणोंसे निश्चित होता है।

इन्द्रिय आत्मा नहीं

उसी प्रकार 'काणोऽहम्' 'बधिरोऽहम्' इत्यादि प्रतीतिके अनुरोधसे इन्द्रियके आत्मा माननेका दुराग्रह भी युक्तिशून्य है, क्योंकि "श्रोत्र इन्द्रियसे मैं शब्द सुनता हूं" इस प्रकारका अनुभव भी सार्वजनिक है, जिससे इन्द्रियोंकी दर्शन आदि क्रियाके प्रति करणरूपता सिद्ध होती है।

और जो जिस क्रियाके प्रति करण होता है वह उस क्रियाके प्रति कर्ता नहीं हो सकता है, क्योंकि एक क्रियाके प्रति कर्ता और करण भिन्न भिन्न पदार्थ ही होता है।

"इन्द्रियाणि अनात्मा करणत्वात् कुठारवत्"

यानी कुल इन्द्रिय अनात्मा हैं अर्थात् आत्मासे भिन्न हैं, क्योंकि वे क्रियाके प्रति करण हैं, जैसे कुठार भी छेदन क्रियाके प्रति करण होनेसे अनात्मा ही सिद्ध होता है।

फिर भी इन्द्रियको करण माननेसे शरीरके द्वारा कुछ भी कार्यसम्पादन नहीं हो सकेगा अथवा शरीरका ही उच्छेद हो जायगा, क्योंकि एक शरीरमें अनेक इन्द्रिय रहते हैं, सब इन्द्रियके आत्मा होनेसे स्वतः सबकी स्वतन्त्रता हो जानेसे किसीकी पूर्व दिशाको ओर

और किसीकी पश्चिम दिशाकी ओर जानेकी इच्छा होनेसे कार्य-सम्पादनमें कठिनाइयां होने होने लगेंगी, और इस प्रकार परस्पर विपरीत कार्य करनेकी इच्छा होनेसे शरीरका ही उच्छेद हो जायगा, क्योंकि कभी ऐकमत्य रहने पर भी सर्वदा ऐकम त्य रहने का कुछ कारण नहीं है।

श्रुतिमें जो इन्द्रियका परस्पर संवाद और उनका प्रजापतिके पास जाना सुना जाता है उससे इन्द्रियोंकी चेतनता सिद्ध नहीं होती है, किन्तु इन्द्रियोंके अभिमानी देवताकी चेतनता सिद्ध होती है क्योंकि देहकी तरह इन्द्रियोंकी भी उत्पत्ति-विनाश होनेसे वे अनात्मा ही सिद्ध होते हैं। फिर भी इन्द्रियोंको आत्मा माननेसे पूर्वोक्त कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष भी उपस्थित हो जाते हैं अतः 'काणोऽहम्' इत्यादि प्रतीति 'लोहितः स्फटिकः' की तरह भ्रमरूप है।

प्राण भी आत्मा नहीं

ऐसे ही प्राण भी आत्मा नहीं है। यह जो आक्षेप किया जाता है कि 'क्षुत्पिपासावानहम्' इस प्रकारके लौकिक अनुभवसे और "अन्योऽन्तरात्मा प्राणमयः" इस श्रुतिके अनुरोधसे प्राण ही आत्मा निश्चित होता है, क्योंकि क्षुधा-पिपासा प्राणमें ही देखी जाती हैं अतः वे प्राणके ही धर्म हैं और पूर्वोक्त लौकिक प्रतीतिसे क्षुधा-पिपासावान आत्मा है यही निश्चित हो चुका है, यह कहना भी युक्ति-रहित है, क्योंकि वायुके विकार होनेसे बाह्य वायुकी तरह प्राण भी आत्मा नहीं है। उक्त श्रुतिका प्राणको आत्मा सिद्ध करनेमें

तात्पर्य नहीं है, किन्तु मुमुक्षुके प्रति सोपान क्रमसे शुद्ध आत्माका ज्ञान करानेमें तात्पर्य है, क्योंकि उसके विरुद्ध आगे "अन्योऽन्तरात्मा मनोमयः-यानी प्राणसे भी सूक्ष्म दूसरा मनोमय आत्मा है" इस प्रकारकी श्रुति उपलब्ध होती है। "क्षुधा-पिपासावान् मैं हूं" यह लौकिक अनुभव 'लोहितः स्फटिकः' की तरह भ्रमरूप है।

इस प्रकार विवेचना करनेसे प्राणमय कोश भी आत्मा नहीं है, किन्तु प्राणमय कोशसे आत्मा भिन्न है यही निश्चित होता है।

मन भी आत्मा नहीं

'अन्योऽन्तरात्मा मनोमयः' इस श्रुतिके आधार पर और 'अहं संकल्प-विकल्पवान्' इस लौकिक अनुभवके आधार पर मनको आत्मा मानना असङ्गत है क्योंकि "अन्याऽन्तरात्मा विज्ञानमयः-यानी मनसे भी सूक्ष्म दूसरा विज्ञानमय आत्मा है" इस प्रकारकी श्रुति पूर्वोक्त श्रुतिके विरुद्ध आगे उपलब्ध है। संकल्प-विकल्प यानी सन्देह मनका ही धर्म है और अहं संकल्प-विकल्पवान यह प्रतीति भी 'लोहितः स्फटिकः' की तरह भ्रमरूप ही है, क्योंकि सुषुप्ति अवस्थामें मन या उसके धर्म संकल्प-विकल्पके नहीं रहने पर भी आत्माका अस्तित्व रहता है, क्योंकि उस समय भी अज्ञानके साक्षीरूपसे आत्मा विद्यमान रहता है जिससे उठने पर "मैं कुछ नहीं जाना" इस प्रकार सुषुप्तिकालके अनुभूत अज्ञानका स्मरण होता है। इस प्रकार मनोमय कोशसे भी आत्मा भिन्न है यही निश्चित होता है।

विज्ञान भी आत्मा नहीं

"अन्योऽन्तरात्मा विज्ञानमयः" इस श्रुतिके बलसे यह जो आक्षेप किया जाता है कि विज्ञान ही आत्मा है क्योंकि 'अहं कर्त्ता' और 'अहं भोक्ता' इस प्रकार कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्मविशिष्ट विज्ञान ही आत्मा साबित होता है यह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें आकाश आदि भूतोंके सत्त्व अंशसे अन्तःकरणकी उत्पत्ति कही गयी है। अतः भूतोंके विकार होनेसे अन्तःकरण भी घट आदिकी तरह जड़ ही है यही निश्चित होता है और सुषुप्तिकालमें अन्तःकरणका भी लय हो जाता है और आत्माका लय नहीं होता है अतः अन्तःकरण और अन्तः करणकी वृत्ति बुद्धि आदि आत्मा नहीं है। 'अहं कर्त्ता' और 'अहं भोक्ता' यह अनुभव 'लोहितः स्फटिकः' की तरह भ्रमरूप है और उक्त श्रुतिके विरुद्ध 'अन्योऽन्तरात्मानन्दमयः—यानी विज्ञानसे सूक्ष्म दूसरा आनन्दमय आत्मा है" ऐसी श्रुति भी उपलब्ध है इस प्रकार विज्ञानमय कोश भी आत्मा नहीं है।

आनन्दमय कोश भी आत्मा नहीं

अन्योऽन्तरात्मानन्दमयः" इस श्रुतिसे आनन्दमय आत्मा सिद्ध होता है। आनन्दमय शब्दका वाच्य अर्थ अज्ञान है अतः अज्ञान ही आत्मा है यही निश्चित होता है और 'अज्ञोऽहम्' इस प्रकारके अनुभवसे भी अज्ञानकी ही आत्मरूपता सिद्ध होती है यह कहना भी सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य-जन्य ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त हो जाता है और वह अज्ञान देह आदिकी तरह जड़ है और आत्मा चेतन नित्य है।

समाधि अवस्थामें अज्ञान प्रतीत नहीं होता है, किन्तु आत्मा अक्षुण्णरूपसे सर्वदा विद्यमान रहता है अतः अज्ञान कथमपि आत्मा नहीं है यही युक्तियों और श्रुतियोंसे निश्चित होता है।

'अहं अज्ञः' यह प्रतीति 'लोहितः स्फटिकः' की तरह भ्रमरूप है और 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इस श्रुतिके द्वारा आनन्दमय कोशसे भिन्न आनन्दमय कोशके अधिष्ठानरूप तथा साक्षीरूप आत्माका प्रतिपादन किया जाता है, अतः 'अन्योऽन्तरात्मानन्दमयः-इस श्रुतिका भी पूर्ववत् आनन्दमय कोशको आत्मा प्रतिपादन करनेमें तात्पर्य नहीं है किन्तु सोपानक्रमसे मुमुक्षुके प्रति एक श्रुतिसे उस प्रकारके आत्माका स्वरूप प्रतिपादन करके उसके आगेकी दूसरी श्रुतिसे उसका निषेध करते हुए अन्तमें सब कोशोंके अधिष्ठानस्वरूपसे और साक्षीस्वरूपसे विशुद्ध आत्माका प्रतिपादन किया गया है। इसी विशुद्ध आत्मस्वरूपके प्रतिपादन करनेमें समस्त श्रुतियोंका तात्पर्य है यही निश्चित होता है, इस प्रकार यह आत्मा आनन्दमय कोशसे भी भिन्न है—यानी अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पंच कोशोंसे आत्मा भिन्न है। उक्त पंच कोशोंका वास्तवमें लेशमात्र भी आत्मामें सम्बन्ध नहीं है यही दृढ़रूपसे निश्चय करना पंचकोश विवेक कहलाता है, क्योंकि आत्मा समस्त उपाधियोंसे रहित, अनन्त, आनन्द, चैतन्य,, एकरस, अद्वितीय है। इस प्रकार पंचकोश विवेक करके मुमुक्षु कृतकृत्य हो जाता है।

ओम् शान्तिः, ओम् शान्तिः, ओम् शान्तिः।

द्वितीय रत्न समाप्त